JUNE
1978
I
DEC.
1979

राज्य संग्रहालय, लखनऊ, में सितम्बर ५ से ७, १९८०, को 'कला में कृष्ण' संगोष्ठी में पठित शोध-पत्र

Papers presented at the Seminar on 'Krishna Theme in Art' held in the State Museum, Lucknow, from Sept. 5 to 7, 1980.
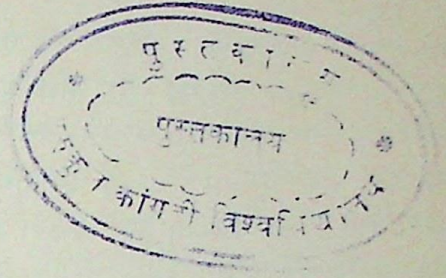
सम्पादकीय

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में श्रीकृष्ण ईश्वर के अवतार हैं अथवा स्वयं ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ऐतिहासिक क्रम में विकसित हुआ है और उसने संस्कृति के विभिन्न पक्षों–अभिनीत कला तथा संगीत व दृश्य कला आदि सभी को प्रभावित किया है। वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण चेतना भारतीय मन और सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों में अविच्छिन्न रूप से व्याप्त है। श्रीकृष्ण की कल्पना समयांतर के साथ-साथ मतों की विभिन्नता का अतिक्रमण करती रही है। यही कारण है कि धीरे-धीरे अनेक मतान्तरों के बावजूद उत्तरी और दक्षिणी भारत को उसने समग्रीकृत किया है। निराकार या साकार, हिन्दू या मुसलमान, बौद्ध जातक या जैन आगम–सभी के लिये श्रीकृष्ण ग्राह्य अथवा विचारणीय रहे हैं। भारतीय संस्कृति को एक निश्चित रूप देने में श्रीकृष्ण का महान् योगदान है। यह बात पूरे तौर पर हम तभी ग्रहण कर सकेंगे जब हमारे सम्मुख ऐतिहासिक परिपेक्ष्य होगा और इस बात की जानकारी होगी कि सभी वर्ग और बौद्धिक स्तर के लोग श्रीकृष्ण की कल्पना से अनुप्राणित हैं।

एक और विशेष बात श्रीकृष्ण के साथ हुई है–वह है उनका लोक मंगलकारी तथा लोक रंजक रूप जिसने रसखान, सूरदास, मीरा और जयदेव आदि को काव्य के लिये प्रेरित किया तथा बल्लभाचार्य जैसे अनेक दार्शनिकों को अपने भक्ति संबंधी सिद्धान्तों को धर्म, भाषा, जाति तथा भूगोल की सीमाएं और बंधन तोड़ते हुए प्रचारित और प्रसारित करने के लिये अनुप्राणित किया। यह बात भी सोचने और अध्ययन करने की है कि श्रीकृष्ण चेतना का पिछले अनेक वर्षों से नई शक्ति और उत्साह के साथ सार्वभौमिक विस्तार हो रहा है।

शास्त्रीय तथा लोक कलाओं के क्षेत्र में श्रीकृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। उनका यह पक्ष सौन्दर्य है–जिसमें सहजता, लावण्य और गति है। ग्रामीण क्षेत्रों में सोहर जैसे लोक गीतों से लेकर शास्त्रीय कलाओं के उत्कृष्ट रूप जैसे मूर्तियों, नाटक, संगीत तथा चित्रों में श्रीकृष्ण पूरे तौर पर व्याप्त हैं। दीर्घ काल से किसी न किसी रूप में श्रीकृष्ण कवि और साहित्यकारों के भी प्रेरणा स्रोत रहे हैं। वास्तव में बिना श्रीकृष्ण को समझे भारतीय कला के विविध रूपों तथा उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना कठिन है।

श्रीकृष्ण एक ऐसी परम्परा के वाहक हैं जो रहस्यवादी होते हुए भी अत्यन्त पार्थिव है— जो एक ओर भक्ति–दर्शन की ओर लोगों को प्रेरित करती है और दूसरी ओर गीता के कर्मयोगी बनने और क्लैव्य की ओर न जाने का आदेश देती है ।

प्रस्तुत विशेषांक वर्ष 1980 में सितम्बर 5 से 7 के बीच राज्य संग्रहालय, लखनऊ, में सम्पन्न हुई 'कला में कृष्ण' विषयक संगोष्ठी का प्रतिफल है । विद्वानों के सहयोग से यह गोष्ठी बड़ी सफल हुई, जिसके फलस्वरूप भारत के विभिन्न क्षेत्रों में और विभिन्न युगों में कला में श्रीकृष्ण कथा का सर्वेक्षण-अनुशीलन संभव हो सका । जिन विद्वानों ने पधार कर निबन्ध पाठ किया उनके प्रति तो हम आभारी हैं ही साथ ही उन महानुभावों के भी जो किसी कारणवश नहीं पधार सके उन्होंने निबन्ध भेजकर हमें कृतार्थ किया है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी महानुभाव थे जिन्होंने उपस्थित होकर हमें अपने सुन्दर व्याख्यानों से अनुगृहीत तो किया किन्तु उनके निबन्ध प्राप्त न हो सके । इसमें संगोष्ठी के उद्घाटक प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद् श्री शिवराममूर्ति, अध्यक्ष श्रीमती डा० कपिला वात्स्यायन, डा० विद्यानिवास मिश्र, डा० सुरेश अवस्थी, श्री श्रीलाल शुक्ल, डा० राय आनन्द कृष्ण हैं । संगोष्ठी के आयोजन में तत्कालीन निदेशक सांस्कृतिक कार्य, श्रीमती मंजुलिका गौतम का योगदान महत्वपूर्ण रहा है ।

इस अंक से पत्रिका में संस्कृत के मूल अथवा अन्य देशज शब्दों को रोमन लिपि में लिखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत विशेष संकेतों का उपयोग किया गया है । पाठकों की सुविधा के लिये एतदर्थ एक चार्ट भी दिया गया है । उदाहरणत: कृष्ण को Krishna न लिखकर Kṛṣṇa लिखा गया है ।

संगोष्ठी के साथ ही "कला में कृष्ण" विषयक विशेष प्रदर्शनी भी आयोजित की गई थी जिसका उद्घाटन विभागीय सचिव डा० जे० पी० सिंह ने किया । प्रदर्शनी के आयोजन में राजकीय संग्रहालय मथुरा तथा वृन्दावन शोध संस्थान का विशेष सहयोग मिला ।

पिछले एक वर्ष में प्रदेश के तीन विशिष्ट विद्वान पद्मविभूषण श्री राय कृष्णदास, डा० विनोद प्रकाश द्विवेदी तथा डा० ब्रजेन्द्र नाथ शर्मा से संग्रहालय जगत् शून्य हो गया । राय साहब की पुण्य स्मृति को इस पत्रिका का पिछला अंक समर्पित हुआ था । प्रस्तुत विशेषांक डा० वी० पी० द्विवेदी और डा० बी० एन० शर्मा–दो प्रतिभा सम्पन्न कर्मठ युवा विद्वानों की स्मृति को अर्पित है जिनका आकस्मिक निधन पुरा जगत् के लिये महती क्षति है ।

पत्रिका के व्यापक प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है ताकि संग्रहालय व पुरातत्व जगत् उत्तर प्रदेश की पुरा सम्पदा तथा पुरातात्विक एवं सांस्कृतिक गति विधियों से अवगत रहे । इसके लिये वार्षिक सदस्यता के लिये मैं विभिन्न संस्थाओं और शोधार्थियों का आह्वान करता हूं । वार्षिक सदस्यता शुल्क मात्र 10 रु० है और सदस्यों को डाक व्यय से मुक्त रखा गया है । यह पत्रिका शैक्षिक प्रचार-प्रसार की दृष्टि से लागत से भी कम मूल्य पर उपलब्ध करायी जा रही है ।

"कला में कृष्ण" शीर्षक संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका के 21-24 वें संयुक्तांक के प्रकाशन से अब हमारी शोध पत्रिका दिसम्बर, 1979 तक पूरी हो चुकी है। फिर भी हम अपने लक्ष्य से पीछे हैं। आशा है शीघ्र ही 1981 तक की दूरी भी तय हो जायगी। गत विशेषांक की भाँति ही इस विशेषांक के सम्पादन का प्रमुख उत्तरदायित्व श्री रमेश चन्द्र शर्मा, कार्यकारी सम्पादक तथा निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ, ने वहन किया है और अन्य सहयोगियों के अतिरिक्त श्री श्यामानन्द उपाध्याय तथा श्री चन्द्रसेन श्रीवास्तव ने उनकी बहुविध सहायता की है। श्री शर्मा ने कठिन परिश्रम तथा सूझबूझ के साथ प्रस्तुत विशेषांक का संपादन किया है। मुझे पूरा विश्वास है कि पत्रिका अपने वर्तमान रूप में रोचक और सभी के लिये लाभकर सिद्ध होगी।

भवानी शंकर शुक्ल
प्रधान सम्पादक
निदेशक, सांस्कृतिक कार्य, उत्तर प्रदेश

विष्णवायतनम्

दक्षिणे पुण्डरीकाक्षः पूर्वे नारायणः स्मृतः ।
गोविन्दः पश्चिमे स्थाप्य उत्तरे मधुसूदनः ॥६३॥
ईशाने स्थापयेद् विष्णुमाग्नेय्यां तु जनार्दनम् ।
नैर्ऋत्ये पद्मनाभञ्च वायव्ये माधवं तथा ॥६४॥
केशवो मध्यतः स्थाप्यो वासुदेवोऽथवा बुधैः ।
सङ्कर्षणो वा प्रद्युम्नोऽनिरुद्धो वा यथाविधि ॥६५॥
दशावतारसंयुक्तः प्रोक्तो जलशयोऽथवा ।
अग्रतः शूकरः स्थाप्यः सर्वदेवमयः शुभः ॥६६॥

रूपमण्डनम्, अध्याय ३

CONTENTS

Cover

Rādhā offering betel to Kṛṣṇa, Kāngrā, late 18th Cent. A. D.

EARLY KṚṢṆA ICONS : THE CASE AT MATHURĀ

Doris Srinivasan

Writing about thirty years ago, an eminent authority on the art of Mathurā could well refer to a paradox. Describing a relief in the Mathurā Museum (No. 1344) which he identified as Vasudeva carrying baby Kṛṣṇa across the Jumnā to the village of Gokula, V. S. Agrawala remarked "Of the hundreds and thousands of Mathurā sculptures that have come down to us from the Kushāṇa period the present relief is the only one about which it can be said that it illustrates an incident from the life-story of Śrī Krishṇa."[1]

The unusual aspect of this paucity is based on two factors. First, Mathurā during the Kuṣāṇa period was the artistic fountainhead wherefrom originated not only Hindu, but also Buddhist, Jaina and folk icons. In consequent, among the "hundreds and thousands of Mathurā sculptures" that Agrawala speaks of, both major sectarian divinities and minor sectarian godlings are represented. Second, according to Purāṇic lore, Kṛṣṇa is the 'man in Mathurā'[2], being born there and returning later in life to punish Mathurā's tyrannical ruler, Kaṃsa, who plotted to destroy him. The association between Kṛṣṇa and Mathurā is of course already recorded in pre-Purāṇic literature. The *Mahābhārata* in several passages reveals that Kṛṣṇa considers Mathurā the home from which he had to flee when Jarāsaṃdha attacked.[3] Earlier evidence, though more circumstantial, nonetheless seems to connect Kṛṣṇa with Mathurā. The *Mahābhāṣya* (c. mid second century B. C. to beginning of Christian era[4]), already knows of the killing of Kaṃsa by Kṛṣṇa, or Vāsudeva, and the narration and presentation of dramas, presumably in Mathurā[5], on the life of Kṛṣṇa.[6] In effect what has perplexed Agrawala and other art historians is that the most productive center of sectarian art in the Kuṣāṇa period would refrain from fashioning icons of an important local hero who was probably deified before the time of the *Mahābhāṣya*.[7]

Dr. Doris Srinivasan, George Mason University, Virginia—4400 (U.S.A.)

This lacuna is not confined to Mathurā alone. Representations of episodes in the life of Śrī Kṛṣṇa (Kṛṣṇa-Līlās) have not, with the exception of the aforementioned Keśīvadha, been clearly recognized from any site prior to the Gupta period. Indeed even the identification of the Kuṣāṇa relief discussed above (No. 1344), cannot be easily accepted. The *Harivaṃśa*, which provides an early description[8] of the events surrounding Kṛṣṇa's removal from Mathurā to escape Kaṃsa, does not mention Vasudeva's crossing of the Jumnā.[9] In accordance with this, there is no depiction of a river crossing in the famous late Gupta panel from Deogarh; it portrays Kṛṣṇa's mother Devakī handing over the babe to Vasudeva on her right.[10] So too the well-known Kṛṣṇa Govardhana from the Gataśram Nārāyaṇa Temple in the heart of Mathurā,[11] though attributed to the Kuṣāṇa period by Coomaraswamy,[12] may be more comfortably assigned, on stylistic grounds, to the post-Gupta period.[13]

The situation changes in the post-Kuṣāṇa period, though not appreciatively for Mathurā. During the fourth through sixth centuries A. D., several themes relating to the life of Kṛṣṇa as cowherd (Gopāla-Kṛṣṇa) come from areas in Western India and Uttar Pradesh. Two Rang Mahal (Bikaner) terracottas depict Kṛṣṇa lifting Mt. Govardhana (Govardhana-dhāraṇa) and his asking a gopī for tribute (Dānalīlā);[14] the Mandor pillars (Rājasthān) show several more episodes, including : the Keśivadha; Govardhana-dhāraṇa; Yaśodā churning milk and Kṛṣṇa stealing butter; overturning of the cart by baby Kṛṣṇa; Yaśodā nursing baby Kṛṣṇa; Kṛṣṇa's elder brother, Balarāma killing Dhenuka; Kṛṣṇa's subjugation of the Nāga Kāliya (Kāliyamardana).[15] The U. P. region is innovative in expanding both the size and themes of the Kṛṣṇa-Līlā repertoire.[16] The impressive Govardhan-dhāraṇa figures from Varanasi and Kara are well known.[17] Three representations of the Kāliyamardana are attributed to the Mathurā school.[18] A Chandausi terracotta plaque shows Pralamba and Balarāma.[19] The Bhītargaon brick temple may, according to R. C. Singh, feature terracotta panels of a wrestling scene; Kṛṣṇa destroying the elephant Kuvalayāpīḍa; possibly Kṛṣṇa killing Kaṃsa.[20] The Garḥwā pillar and pillar fragments further amplify the sculptural representations of Kṛṣṇa's youth and astounding feats.[21]

The aim of the foregoing scan is not to treat extensively the development of early Kṛṣṇa-Līlā scenes.[22] Rather it is to illustrate the unexceptional role Mathurā played in initiating Kṛṣṇa-Līlā motifs even in the Gupta period. On the basis of present knowledge, one may conclude that during the first five hundred years of the Christian era, which mark the school's zenith, the Mathurā workshops did not experiment sufficiently with the theme of Gopāla-Kṛṣṇa to allow for the depiction of more than two līlās.

It will be instructive at this point to contrast the activity in U. P., especially at

Mathurā, with that in Karṇāṭak, especially at Bādāmī during the sixth and seventh centuries. The first extended program of sculptures depicting Gopāla-Kṛṣṇa's exploits on both banks of Jumnā occurs in Caves II and III at Bādāmī (c. 578 A. D.) and somewhat later (c. 7th century A. D.) at the gate of the Bādāmī Northern Fort. Taken together, the Bādāmī panels provide the main sculptural parameters of the legend. These include : the birth of Kṛṣṇa ; imprisonment of Devakī and Vasudeva and Kaṃsa's visit ; transfer to Gokula ; killing of Kṛṣṇa's elder sister ; Kṛṣṇa and Balarāma with Yaśodā and Rohiṇī ; scene in Gokula ; the butter thief ; Pūtanā episode ; the cart incident ; uprooting the Yamalārjuna trees ; killing of Vatsa and Ariṣṭa ; coronation of Kṛṣṇa ; subjugation of Kāliya ; slaughter of Dhenuka by Balarāma ; Kṛṣṇa Govardhana ; slaughter of Kuvalayāpīḍa ; Kṛṣṇa's fight with Chāṇūra ; Kṛṣṇa and the gopīs sporting ; Subhadrā-Haraṇa ; the Mathurā wrestling arena ; the conflict with Kaṃsa.[23] In effect, Bādāmī offers the first comprehensive sculptural statement on the meaning of Gopāla-Kṛṣṇa.

To return to Mathurā, its unremarkable role in the sculptural formulation of the Gopāla-Kṛṣṇa legend supports a penetrating series of studies made by C. Vaudeville.[24] Based on analyses of selected texts, sculptural material and site observations, Vaudeville is able to show that the town of Mathurā was not central to Purāṇic legends of Gopāla-Kṛṣṇa[25] and that Gopāla-Kṛṣṇa was not a major Vaiṣṇava deity in the Gangetic area by the end of the Gupta period. He may have been "the great rakṣa of Mount Govardhaṇa and the protector of cowherds living in the area of Mathurā."[26] His popularity among cowherders and pastoral people promotes the generally accepted view that the concept of Gopāla-Kṛṣṇa originated with the Ābhīras.[27] Their homeland may have been in the eastern Punjab ;[28] in the *Mahābhārata*, Ābhīras are associated with Vinaśana, the present Sirhind in that part of the state. The *Periplus of the Erythraean Sea* (second half of first century A. D.) locates them in the Kathiawad area.[29] Ptolemy's *Geography*, a century later, places the Ābhīras in the lower Indus valley. At this time, they also figure as generals under the Śaka satraps of Western India.[30] Further movement of the Ābhīras into the Gangetic valley and the Deccan is variously recorded. An inscription from Nāsik, dated c. 248-249 A. D. mentions the Ābhīra king Māṭharīputra Īśvarasena.[31] Another inscription attributed to Ābhīra Vasusheṇa (278 A. D.) has been found at Nāgārjunikonda.[32] The *Harivaṃśa* (5161-5163) associates the land from Madhuvana near Mathurā to Ānūpa and Ānarta near Dvārakā as territory occupied by Ābhīras.[33] It is therefore theorized that the Ābhīras, and other pastoral tribes they contacted in their wanderings, fostered and developed a cult featuring devotion to a cowherd god. It is quite likely that the Doāb nurtured the early stages of this cult. However, the cult seems to have matured outside of that region. In sum, is it not possible that the dearth of Kṛṣṇa-Līlā images at Mathurā and elsewhere in North India towards the close of the Gupta period accurately reflects Gopāla-Kṛṣṇa's position as a minor folk deity during

these ages ? Taken as such, the near absence of Kṛṣṇa-Līlā scenes in Mathurā during the Kuṣāṇa period and their continued scarcity and limited range in the Gupta period is more readily understandable.

Whereas Mathurā was probably not a center for Gopāla-Kṛṣṇa worship until much later,[34] it was the locale intimately connected with the Kṛṣṇa of the epic, Vāsudeva-Kṛṣṇa. It is generally agreed that the story of the man-god Vāsudeva-Kṛṣṇa did not begin to join with that of Gopāla-Kṛṣṇa until the *Harivaṃśa* and *Viṣṇu Purāṇa*,[35] and it is usual to trace the rise of Kṛṣṇaism from the merging of legends connected with these two[36] Kṛṣṇas. In isolating the human aspect of Vāsudeva-Kṛṣṇa's story in pre-Purāṇic sources, Mathurā figures importantly. Vāsudeva-Kṛṣṇa's family ties, on both his mother's and father's side, are with the Vṛṣṇis of Mathurā. In the epic, Vāsudeva-Kṛṣṇa is the son of Vasudeva, king of the Vṛṣṇis. The Vṛṣṇis are already known in the later Vedic period ; their descendants (i. e. Vārṣṇa, Vārṣṇeya, Varṣṇya) are mentioned in the Brāhmaṇas.[37] Pāṇini (VI. 2. 34) cites the Vṛṣṇis and Andhakas (with whom they were allied to form a branch of the Yādava clan) as *kṣatriya* names. We know from the *Mahābhārata* that at times these people controlled the rulership of Mathurā (e. g. II. 13. 29-30 ; V. 126. 36ff). The town should have been their ancestral home, to which they are drawn to return after the momentary retreat of Jarāsaṃdha.[38] Local power may be attributed to Vāsudeva-Kṛṣṇa in the epic.[39] Indeed the combination of geopolitical factors influence his character and actions. He is considered the protector of the Vṛṣṇis.[40] In addition, a series of epithets show that his identity is closely connected with his lineage.[41] As scion of the Vṛṣṇis, the appellation 'Vārṣṇeya' is enough to designate him,[42] or it can be associated with him as a sort of paternal surname (e. g. Kṛṣṇa Vārṣṇeya *MhBh*. III. 187. 51). This Vṛṣṇi potentate is motivated into alliances and maneuvers which promote the interests of his faction of the Vṛṣṇis.[43] A case in point is the killing of Kaṃsa, another Vṛṣṇi to whom he is related on his mother's side. Kṛṣṇa says that he punished the usurper "for the good of his kinsmen,"[44] presumably a faction outside of Kaṃsa's party. This conflict, already known to the *Mahābhāṣya*, The *Ghaṭa Jātaka* and possibly the *Arthaśāstra*,[45] must belong to the oldest core not of the Gopāla-Kṛṣṇa legend, but of the Vṛṣṇi myth cycle that should have developed around the deified hero. Resolution of this conflict forms the early motive for the Supreme Lord to descend to earth and take on human form as Kṛṣṇa in Mathurā.[46]

The divinity of Vāsudeva-Kṛṣṇa, already assumed by the author of the *Mahābhāṣya*, permeates the epic. That is not to deny that there are changes in the scope of his divinity.[47]. Rather it is to echo the belief of Dhṛtarāṣṭra who knows the Vṛṣṇī hero to be the eternal Viṣṇu.[48] The absorption of the Vṛṣṇī hero into the Vaiṣṇava main stream is very gradual.[49] The amalgamation precess was preceded and concurrent with

a cult worshipping several Vṛṣṇi heroes. Inscriptional evidence indicates the existence of such a cult in Mathurā. The Morā Well inscription (c. 10-25 A. D.), found seven miles west of Mathurā, records that a stone shrine housed images (*pratimā-*) of the blessed (*bhāgavat-*) five heroes (*pañçavīras*) of the Vṛṣṇis. The identification of these five apotheosized *kṣatriyas* is accepted as being Saṃkarṣaṇa (Balarāma, Baladeva), Vāsudeva, Pradyumna, Sāmba and Aniruddha. Since they are all related to each other through their relationship to Vāsudeva-Kṛṣṇa,[50] it may be inferred that he is the main object of worship. Indeed, a cult to the worship of Vāsudeva, known as Bhāgavatism, is already in existence by the second century B. C.[51]

The above literary and epigraphical sources suggest that Mathurā was pivotal in formulating the legend and worship associated with the hero-god Vāsudeva-Kṛṣṇa. Interestingly, adherents to Brāhmanic traditions in Mathurā[52] may not have felt hostile to a local cult of Vṛṣṇi heroes, nor have been excluded from participation. Several references show that a spirit of accommodation existed between the two. For example, in the *Mahābhārata*, Kṛṣṇa himself undergoes the Vedic *dikṣā* cermony[53]. Also, two pre-Christian inscriptions indicate that no clear distinctions existed between followers of Vedic ritual practices and devotees of Vṛṣṇi heroes. The Nānāghāṭ (Maharashtra) inscription of the first century B. C. begins with an invocation to several gods, including Saṃkarṣaṇa and Vāsudeva, and then continues to describe the amounts of sacrificial fees the donor paid to the priests who performed a number of Vedic sacrifices.[54] From the Ghosūṇḍī inscription (Rajasthan) of the same age, it is learned that the Vedic Aśvamedha sacrifice was performed in honor of Saṃkarṣaṇa and Vāsudeva.[55]

Thus, the thrust of the pre-Purāṇic material, including the passages cited at the outset of this paper, is to ally Vāsudeva-Kṛṣṇa, not the cowherd Kṛṣṇa, with Mathurā. In consequence, a paradox would indeed exist if Mathurā, patronizing as it did a stone shrine with Vṛṣṇi images in the pre-Kushāṇa period, did not continue, in its artistic heyday to fashion such images. And this is what we should consider next.

A look at Gupta iconographic references certainly reinforces our expectation. The *Bṛhat Saṃhitā* (LVII. 37) states that Ekānaṃśā (the sister of Balarāma and Kṛṣṇa[56]) is to be placed between Baladeva and Kṛṣṇa ; if she is two-armed, her left hand should rest at the hip and her right carries a lotus. The *Viṣṇudharmottara Purāṇa* confirms this description (III. 85. 72). It is significant that this description is contained within a series (III. 85.71-79) describing representations of the following eleven deities : Devakī, Yaśodā, Ekānaṃśā, Balarāma, Kṛṣṇa, Rukmiṇī,[57] Satyabhāmā,[57] Pradyumna, Aniruddha, Sāmba, Yuyudhāna.[58] Except for Yaśodā, they are all Vṛṣṇis by blood or marriage; and all are related in one way or another to Vāsudeva-Kṛṣṇa. With the acknowledgment, in

both pre and post Kushāṇa sources, of icons representing Vṛṣṇi stock, the probability of their occurrence in the Kushāna period is of course quite high.

Indeed from Mathurā come four small Kuṣāṇa kinship reliefs.[59] Artistically they are not impressive, but iconologically they are very important. The least damaged piece (Mathurā Mus. No. 67. 529; 18.4 cms. in ht.) is of red mottled sandstone (Fig. 1). It depicts three figures, much effaced, though originally carved in high relief. The center figure is a short female. She has two arms; the right hand is probably poised in the fear-allaying gesture (*abhayamudrā*). A 'canopy' is arched over her head. The larger male figures which flank her are four-armed. The male on her right holds a mace (*gadā*) in the upper right hand and a plough (*hala*) surmounted by a small lion in the upper left hand. The natural right hand is in *abhayamudrā* while the natural left rests at the waist. The male on the left seems to hold his natural hands in the same position as the other male; it is no longer possible to determine if the right hand carried another emblem. His raised right and left hands hold the *gadā* and discus (*çakra*) respectively. All three figures are deities, as the *abhayamudrā* indicates. The attributes of the god on the right clearly belong to Saṃkarṣaṇa/Balarāma.[60] The *gadā* and *cakra* held by the other god, are of course attributes of Viṣṇu. However, the same attributes can also be associated with Vāsudeva-Kṛṣṇa. It may be remembered that in the famous epiphany section of the *Bhagavad Gītā*, Arjuna overwhelmed upon seeing the *viśvarūpa* form of Kṛṣṇa, asks to see him instead 'with crown, mace, discus in hand' (XI. 46). The *gadā* and *çakra* bespeak of sovereignty and strength and are therefore entirely appropriate as attributes for this Vṛṣṇi hero-god. Another passage in the *Mahābhārata* mentions Vāsudeva-Kṛṣṇa bearing the conch (*śaṅkha*) in addition to the *çakra* and *gadā*.[61] A later Pāñçarātra text, the *Sāttvata-Saṃhitā* (5.9-21) describes, for purposes of meditation, the four *vyūhas*, associated with four deified Vṛṣṇi heroes. Herein, Vāsudeva, as the first *vyūha*, is likewise said to bear the *çakrā, gadā* and *śaṅkha*.[62] Probably such icons of Vāsudeva-Kṛṣṇa remain to be identified in the art of the Kushāṇa period.[63] From the Gupta period two examples exist. Holding *śaṅkha* and *gadā* in the raised hands and *çakra* in the lowered left, a four-armed Vāsudeva-Kṛṣṇa is represented on a fragment of a Garhwā lintel now in the Lucknow Museum.[64] The lintel depicts a scene from the *Mahābhārata*; Arjuna and Vāsudeva-Kṛṣṇa watch the fatal wrestling match between Bhīma and Jarāsaṃdha. Another relief in the Deogarh style shows a four-armed Vāsudeva-Kṛṣṇa seated, as a spectator on a low throne; again Arjuna is by his side.[65] Here *gadā* and *çakra* are held in the extra hands while the natural left holds the *śaṅkha*. It thus seems very probable that the male god on the small Kuṣāṇa relief from Mathurā (No. 67. 529) is Vāsudeva-Kṛṣṇa, Saṃkarṣaṇa/Balarāma's younger brother, and not Viṣṇu.[66] The female in the center should be, according to the *Bṛhat Saṃhitā* and the *Viṣṇudharmottara*, Ekānaṃśā.[67]

The second kinship relief (Fig. 2) from Mathurā (Mathurā Museum No. U 45), shows only Saṃkarṣaṇa/Balarāma and Ekānaṃśā standing side by side; probably it is a fragment. This piece is 19 cms. high. The male figure is four-armed, holding mace and plough surmounted by a lion. His right hand is in *abhayamudrā*; the left rests at the hip—it may have held a flask.[68] Ekānaṃśā has a 'canopy' over her head. She also displays the *abhayamudrā* and rests the left hand on the hip. The relief, much worn, is of red mottled sandstone.

The third piece (Fig. 3) is a buff sandstone fragment (Mathurā Museum No. 15. 912). It is only 17.8 cms. in height and shows a four-armed Vāsudeva-Kṛṣṇa with Ekānaṃśā standing to his right. She is completely defaced. The god and his attributes can be distinguished. Wearing a cylindrical crown, he holds the *gadā* and *çakra* in the extra right and left hands; the natural right is in *abhaya* and the natural left holds what looks like a long-necked flask.

From the District of Gayā comes the only other known Vṛṣṇi kinship triad dating to an early period (Figs. 4-6). It shows intriguing similarities and differences with the Mathurā series. This trio consists of three separate statues representing Saṃkarṣaṇa/Balarāma Ekānaṃśā and Vāsudeva-Kṛṣṇa.[69] Each statue is large. Balarāma as elder brother stands 150 cms. × 40 cms; Vāsudeva-Kṛṣṇa as younger brother is 140 cms. × 40 cms; Ekānaṃśā's size is 127 cms. × 37 cms. They are made of local buff sandstone probably quarried at Kaimur Hill. The figures themselves were found at Devangarh, in the Nawad subdivision of Gayā. Briefly, Saṃkarṣaṇa/Balarāma is two armed and is identified by the plough in his left hand; the right is in *abhaya*. Also the protective serpent canopy, characteristic of this deity, appears overhead.[70] He wears a turban knotted on the left side, two earrings, a necklace and a dhoti gathered in front and tied in loops on the hips. His sister is also two armed. Her right hand is raised in *abhayamudrā* while the left rests at the hip and holds an unidentified object. Her robust and rounded form is decked with jewelry including a tiara, ear-pendants, hair ornaments, a necklace, bangles, anklets and a heavy girdle which secures a fine, thin sārī draped in front and gathered in the center. Vāsudeva-Kṛṣṇa is four-armed. The upper raised right hand holds a ribbed *gadā*; the left bears the *çakra*. The natural right is in *abhaya* and the natural left holds the *śaṅkha* at the hip. He is adorned with a central crested turban, long earrings, a necklace and bangles. His dhoti is draped like that of his brother. Both males have broad, fleshy torsos. All three figures stand, *samapāda*, on plain pedestals.

The Gayā trio represents an early phase of Bihar sculpture which received its inspiration from the Mathurā school; the trio seems to reflect the late Kuṣāṇa and early Gupta stylistic developments at Mathurā.[71]

All the above triads have one thing in common; they stress kinship relationship more than theological hierarchy. From a theological point of view, probably Vāsudeva-Kṛṣṇa is the most important of the three divinities. Evidence of a cult to Vāsvdeva in pre-Christian times has already been mentioned above. In addition, the *vyūha* doctrine, giving greater metaphysical dominance to Vāsudeva than Saṃkarṣaṇa/Balarāma, is already attested in the art and literature from the pre-Christian period onward.[72] Yet these triads unmistakeably emphasize the importance of Saṃkarṣaṇa/Balarāma over Vāsudeva-Kṛṣṇa. In the Gayā trio, Saṃkarṣaṇa/Balarāma is the tallest. In the Mathurā triads he is, or would be if the piece were complete, the male to the right of Ekānaṃśā. Clearly, the whole series is meant to portray the elder brother, the elder sister and the younger brother.[73]

Fashioned during the Kuṣāṇa period, these kinship triads should have been made in response to the Bhāgavatas' worship of ancestral heroes in Mathurā. It may be noted that even though Saṃkarṣaṇa/Balarāma and Vāsudeva-Kṛṣṇa are heroes (*vīras*) of a *kṣatriya* line which exercised some local power and rulership, the hero-gods of these pieces do not appear as 'royal' gods. They are neither modelled to resemble the indigenous *cakravartin* type nor the imperial Kushāṇa images of more foreign inspiration. Represented as deified warriors, they recall the words of the Morā Well inscription. This inscription also indicates that the gods received a *bhakti* mode of worship since focus was on their enshrined icons. The apotheosis of heroes, attested to in this inscription, is not an unusual religious phenomenon. The process is already intimated in the *Aṣṭādhyāyi*; according to IV. 3.99, distinguished *kṣatriya* heroes had become objects of religious *bhakti* even before Pāṇini's time. That process operated upon Vṛṣṇi heroes can be surmised from a variety of early sources. To the aforementioned Nānāghāṭ and Ghosūṇḍī inscriptions, there are coins, sculptures, literary references and other inscriptions indicating that the Vṛṣṇi heroes, especially Saṃkarṣaṇa/Balarāma and Vāsudeva-Kṛṣṇa were already objects of Bhāgavata worship by the Śunga period.[74] Additional evidence for the presence of the Bhāgavata cult in Mathurā may come from another inscription of the time of Śoḍāsa. It records the gift of a *toraṇa* (gateway) and *vedikā* (railing) at a temple some scholars believe was dedicated to Bhagavān Vāsudeva.[75] Vṛṣṇi females were also deified as the above cited *Viṣṇudharmottara* passage reveals. In the case of Ekānaṃśā, epic and Purāṇic legends describe not only her deification but also her worship among the Vṛṣṇi people.[76] S. Jaiswal directs our attention to Vṛṣṇi genealogies in the *Harivaṃśa* and *Viṣṇu Purāṇa* which may disclose evidence of an early matriarchal substratum among the Vṛṣṇis..[77] However that may be, it does seem clear that prominent male and female Vṛṣṇi ancestors were deified and worshipped in Northern India from pre-Christian times onward; probably their apotheosis is part of a larger *bhakti* trend which apotheosized distinguished *kṣatriya* ancestors. The triad pieces affirm that Mathurā, legendary ancestral home of the Vṛṣṇis, continued to support such a cult during Kuṣāṇa times.

That Mathurā encouraged the development of this ancestor cult, which would have to compete for support and patronage with many other sectarian cults, probably extends beyond factors of local pride and family zeal. The triads from Mathurā and Gayā reveal a very strong interrelationship between *bhakti* worship of ancestral heroes and brāhmaṇic reverence to ancestral spirits. The main Brahmaṇic ritual performed for the benefit of one's ancestors is called *śrāddha*. The Vedic *śrāddha* ceremony is meant to transform the dead (*preta*), a rather harmful spirit, into a friendly and helpful ancestor.[78] There are both domestic (*gṛhya*) and public (*śrauta*) *śrāddha* rites for the dead.[79] However, basic to *śrāddha* ceremonies is the offering of balls of food (*piṇḍa*) to the departed, especially the closest direct ancestors (viz. the father, grandfather and great-grandfather). The smṛti literature speaks of Gayā as one of the most suitable and auspicious places to perform *śrāddha*.[80] Indeed it is an ancient holy place (*tīrtha*) associated with the performance of obsequies to ancestors.[81] There is also a special Gayāśrāddha characteristic to that place.[82] Gayāśrāddha "can be celebrated by anybody for any deceased person at any time of the year although the fortnight ending with the Mahālayā-Amāvasya (i. e. the new moon day in *amānta* Bhadrapada or *pūrṇimānta* Āśvina) is regarded the best time for it..."[83]

A noteworthy correlation exists between some of the basic features of *śrāddha* and the Vṛṣṇi heroes, especially the deities on the kinship triads. First, in a passage of the *Viṣṇudharmottara* quoted by *Śrāddhasāra* (p. 6) and *Śrāddhaprakāśa* (pp. 11-12) it is said that the *piṇḍa* offered to the great-grandfather is the god Vāsudeva himself, the one to the grandfather is designated Saṃkarṣaṇa, that to the father is known a Pradyumna and the offerer of the *piṇḍas* is himself in the position of Aniruddha.[84] Second, the name Ekānaṃśā signifies the 'the single portionless one or the new moon.'[85] As noted above, the new moon day is appropriate for the performance of *śrāddha*.[86] In a *Mahābhārata* passage (III. 208. 7-8), Ekānaṃśā is associated with Kuhū; Kuhū is the presiding deity of the fifteenth day of the dark-half when the moon is invisible.[87] The passage relates the lineage of the great seer Aṅgiras. Ekānaṃśā is proclaimed his seventh daughter and is called by the name Mahāmatī at the great fiery sacrifices, as well as by the name Kuhū. The same passage also notes that Sinīvālī is the third daughter of Aṅgiras. These daughters bear names of propitious days for performing *śrāddha*. "Those who keep *śrauta* fires should perform *śrāddha* on Sinīvālī day while those who do not keep *śrauta* fires and Śūdras should offer *śrāddha* on Kuhū day."[88]

In view of the foregoing it does not seem accidental that the large Vṛṣṇi kinship trio was found in the region of Gayā. The find may represent a rapprochement between modes of Bhāgavata and Brahmanical worship. Though highly speculative, it may be worthwhile to ponder whether the small Mathurā triad slabs represent a rapprochement between Bhāgavata and *gṛhya śrāddha* rites and the large Gayā trio represents an affinity between Bhāgavata and *śrauta śrāddha* rites. In any case it does seem apparent that the

Bhāgavata cult, involving the worship of Vṛṣṇi ancestors, exhibits respect and recognition of Vedic *śrāddha* rites and traditions. This is but another instance in what seems to be a reoccurring pattern of accommodation between Vedic and Bhāgavata religious systems.[89] In a place such as Mathurā, stronghold of Brahmaṇic sentiments, that accommodating tendency should have fostered a climate wherein the Bhāgavata cult could grow.

Upon reflection, it could be argued that four Kuṣāṇa triad slabs from Mathurā do not convincingly indicate that the Bhāgavata cult, and worship of Vāsudeva-Kṛṣṇa, was any more prevalent in Mathurā than worship of Gopāla-Kṛṣṇa for whom two Kuṣāṇa reliefs and three Gupta reliefs from Mathurā are known to date. However, it can be demonstrated in another paper,[90] that on the basis of the identification of Vāsudeva-Kṛṣṇa on the kinship triads, it is possible to identify many more Kuṣāṇa icons from Mathurā as representing Vāsudeva-Kṛṣṇa. Indeed, it can be shown that he is among the most important deities, within emerging Hinduism, to be worshipped at Mathurā during the Kuṣāṇa period.

FOOTNOTES

1. *V. S. Agrawala, A Catalogue of the Brāhmanical Images in Mathura Art* (Lucknow, 1951), p. 42. Since Agrawala's *Catalogue*, two Mathurā Kuṣāṇa weight stones have been found which are decorated with representations of Kṛṣṇa fighting Keśī. For the one in the Mathurā Museum (No. 58. 4476), see N. P. Joshi, *Mathura Sculptures* (Mathurā, 1966) p. 68 and Fig. 64. For the one in a private Pakistani collection, see J. E. van Lohuizen—de Leeuw, "Gandhara and Mathura : Their Cultural Relationship," *Aspects of Indian Art* (Leiden, 1972), p. 30. PL. XIa.
2. *Mārkaṇḍeya Purāṇa* 4.56. This interesting passage is translated in C. Dimmitt and J. A. B. van Buitenen, *Classical Hindu Mythology* (Philadelphia, 1978), p. 66.
3. E. g. *MBh.* 2. 13 which narrates Jarāsaṃdha's avenging attacks on Mathurā. After Jarāsaṃdha's temporary retreat, Kṛṣṇa states "all of us lived again happily in Mathurā" : ultimately however, he and his people "had to abandon Mathurā, for fear of Jarāsaṃdha...and leave for Dvārakā city". J. A. B. van Buitenen, *The Mahābhārata* II (Chicago, 1975) pp. 59 and 60.
4. Mid-second century is the date usually assigned to this text. A first century A. D. dating is suggested in the recent studies of S. D. Joshi and J. A. F. Roodbergen, *Patañjali's Vyākaraṇa-Mahābhāṣya* (Poona, 1976), see Introduction.
5. See Norvin Hein, The *Miracle Plays of Mathurā* (New Haven and London, 1972), Chap. 9.
6. Ibid. Cf. R. G. Bhandarkar, "Allusions to Krishṇa in Patanjali's Mahābhāṣya," *The Indian Antiquary* III (1874), 14-16.

7. Cf. D. Srinivasan, "Early Vaiṣṇava Imagery : Caturvyūha and Variant Forms," *Archives of Asian Art XXXII* (1979), 50.

8. The date of the *Harivaṃśa* is still a matter of debate. The general consensus, with which Daniel H. H. Ingalls agrees (see his "The Harivaṃśa as a Mahākāvya" in *Mélanges d'Indianisme á la mémoire de Louis Renou* [*Paris, 1968*], 381-394) places the text between the birth of Christ and the third century A. D. C. Vaudeville would date it between the eight and tenth century A. D. ("Aspects du Mythe de Kṛṣṇa-Gopāla dans l'Inde Ancienne" in the same Festschrift, p. 753). The material in this paper seems to support the later dating.

9. I understand Charlotte Vaudeville to suggest that the Mathurā relief No. 1344 could represent a cowherd (Nanda ?) carrying the babe which was set down on the river bank by a Nāga (Balarāma?) ; see "The Cowherd God in Ancient India" in *Pastoralists and Nomads in South Asia,* ed. by L. S. Leschnik and G.D. Sontheimer (Weisbaden, 1975) pp. 101-102.

10. See fig. 86 in K. Desai, *Iconography of Viṣṇu* (New Delhi, 1973). From approximately the same period, a Garhwā pillar fragment representing the transfer scene also does not illustrate a river crossing. See B. H. Bourdillon, "Krishṇa Obelisks at Garhwa," *Journ. of the U. P. Historical Society* Vol. I, Pt. 2 (1918), 37. In the post-Gupta temple at Pahārpur Bengal (c. 7th—8th century), the transfer is still not depicted as a river crossing (see K. N. Dikshit, *Excavations at Paharpur, Bengal* in *Memoirs of The Archaeological Survey of India*, No. 55 [Delhi, 1938], PL. XXIX b).

11. Mathurā Museum No. D 47.

12. A. K. Coomaraswamy, *History of Indian and Indonesian Art.* Dover ed. (New York, 1965), p. 66 and fig. 102.

13. V .S. Agrawala, *A Catalogue*, p.18 ; N.P. Joshi, *Mathura Sculptures*, p. 87 ;R.C. Sharma, *Mathura Museum and Art* 2nd ed. (*Allahabad, 1976*), p. 102.

14. See H. Goetz, "The Earliest Representations of the Myth Cycle of Kṛṣṇa Govinda," *Journ. of The Oriental Inst. Baroda* Vol. I, No. 1 (1951), 51-59 ; U. P. Shah, "Terracottas from former Bikaner State", *Lalit Kalā VIII* (1960), 55-62 ; U. S. Agrawala, "The Religious Significance of the Gupta Terracottas from Rang Mahal," pp. 63-68 in the same issue.

15. See S. Jaiswal, *The Origin and Development of Vaiṣṇavism* (Delhi, 1967), p. 186 ; *Archaeological Survey of India* ; *Annual Report* 1909-10 (Calcutta, 1914), Pl. 44b ; D. R. Bhandarkar, "Two Sculptures at Mandor," *Arch. Survey of India; Ann. Rep.* 1905-06 (Calcutta, 1909), 135-140.

16. The possibility of a new thematic representation has been suggested by Vaudeville. She proposes that the Ahichatrā terracotta of Jumnā in the Delhi National Museum also shows Dāmodara-Kṛṣṇa, the child god of Gokula beside the figure of the river goddess; see "The Cowherd God" p. 102.

17. They are, respectively, No. 147 in the Bharat Kala Bhavan and No. AM 259 in the Allahabad Museum.

18. One fragment is now in the Barodā Museum; see fig. 1 in H. Goetz, "Myth Cycle of Kṛṣṇa Govinda." Another representation occurs on the top panel of a railing now in a private Paris collection; see M. Beniste, *Rapports entre le Premier Art Khmer et l'Art Indian* (Paris, E. F. E. O. 1970), Tome II, fig. 141. A third fragmentary relief is cited by Krishna Deva ("Krishṇa-Līlā Scenes in the Lakshmaṇa Temple, Khajuraho," *Lalit Kalā VII* [1960], fn. 2, p. 86) as illustrated by K. D. Bajpai, "Images of Krishṇa and Balarāma in Mathura Art," *Kalānidhi* (Hindi) Vol. I, No. 2, fig. 3. This Journal was not available to me.

19. R. C. Agrawala, "Unpublished Sculptures and Terracottas in the National Museum, New Delhi and Some Allied Problems," *East and West XVII*, Nos. 3-4 (1967), p. 279; fig. 11.

20. R. C. Singh, "Bhitargaon Brick Temple," *Bulletin of Museums and Archaeology in U. P.* No. 2 (1968), 30-35.

21. Bourdillon, "Krishṇa Obelisks," pp. 36-37, identifies the following: Kāliyamardana; Kṛṣṇa preparing for the encounter with Chāṇūr and Mushṭika; Kṛṣṇa and Yaśodā (?); the two wrestlers awaiting Kṛṣṇa; Kṛṣṇa stealing butter; the river Jumnā; Yaśodā churning butter; Kṛṣṇa Govardhana; Vasudeva transporting baby Kṛṣṇa; Pūtanā-vadha.

22. Helpful compilations have been offered by K. Desai, *Viṣṇu*, pp. 123-140 and Michael W. Meister, "*Kṛṣṇalīlā* from Wadhwān and Osian", *J. I. S. O. A.* Vol. V (1972-1973), see Appendix.

23. See R. D. Banerji, *Bas reliefs of Badami. Archaeo. Survey of India, Memoirs.* No. 25 (Calcutta, 1928); Goetz. "Myth Cycle", 56. The sequence cited above does not correspond to actual sequences at the site.

24. I. e. "Aspects du Mythe Kṛṣṇa-Gopāla dans l'Inde Ancienne"; "The Cowherd God in Ancient India"; "Braj, Lost and Found", *Indo-Iranian Journal* Vol. XVIII. 3/4 (1976). 195-213.

25. She notes that his association with the city of Mathurā is but a fleeting one. He was born there but was immediately whisked away to be brought to Vraja and Gokula. When he re-enters Mathurā, his childhood is behind him and his link with Braj is

severed. Also, in the *Ghaṭa Jātaka*, Kṛṣṇa is born in the village of Govaḍḍhamāna, not in Mathurā; "Braj, Lost and Found", 198-199.

26. Vaudeville, "The Cowherd God", 100.

27. This view was advanced by R. G. Bhandarkar, *Vaiṣṇavism Śaivism and Minor Religious Systems* (1913), Chap. IX. Cf. S. Jaiswal (*Vaiṣṇavism*, p. 81) who finds in the *Harivaṃśa* and the *Bālacarita* strong evidence for the origin of the cowherd-god among the Ābhīras.

28. Jaiswal, *Vaiṣṇavism*, pp. 80-84; Vaudeville, "Cowherd God", 104-105; fn. 20. Cf. B. Suryavanshi, *The Abhiras* (Baroda, 1962), pp. 1-5.

29. B. Suryavanshi, *The Abhiras*, pp. 7-8.

30. R. C. Majumdar, gen. ed. *The Age of Imperial Unity* Vol. II (Bombay, 1968), 4th ed., p. 221.

31. *Ibid*, p. 222.

32. D. C. Sircar, *Select Inscriptions* I, 2nd ed. (Calcutta, 1965), p. 525.

33. R. G. Bhandarkar, *Vaiṣṇavism and Śaivism*, p. 37.

34. See discussion in Vaudeville, "The Cowherd-God" 103-104; also note the later Purāṇic references to Mathurā in connection with Kṛṣṇa worship in P. V. Kane, *History of Dharmaśāstra* Vol. IV (Poona, 1953), p. 690 and in the article entitled "Nārada Purāṇa—A Study", *Purāṇa* XXI No. 1 (1979), 418. I wish to thank Prof. Cornelia Dimmitt for bringing this article to my attention.

35. For a brief reference to the interpolated passages of the Gopāla-Kṛṣṇa legend in the *Mahābhārata* see R. G. Bhandarkar, *Vaiṣṇavism and Śaivism*, pp. 35-36; C. Vaudeville, "The Cowherd God", pp. 94-95.

36. It should be noted that there is an oft cited third component, namely Vedic Kṛṣṇa, who may have merged with Vāsudeva-Kṛṣṇa before the latter joined with Gopāla-Kṛṣṇa. See H. Raychaudhuri, *Materials for the Study of the Early History of the Vaishnava Sect*. 2nd ed. Reprint (New Delhi, 1975), pp. 21-22 for a discussion on the identity of Vedic Kṛṣṇa and Epic Vāsudeva. Cf. S. K. De, "The Vedic and Epic Kṛṣṇa", *The Indian Hist. Quarterly* Vol. XVIII (1942), 297-301.

37. A. A. MacDonell and A. B. Keith, *Vedic Index* II. reprint (Delhi, 1958), 289-290.

38. *Mbh*. 2.13.44

39. D. C. Sircar (*Studies in the Religious Life of Ancient and Medieval India* [Delhi, 1971], p. 17) notes that "the *Mahābhārata* sometimes mentions Vāsudeva as *Saṅghamukhya*

or Elder of the Republican Confederacy of the Vṛṣṇi, Andhaka and other associate peoples."

40. See S. Sorensen, *Index to the Names in the Mahabharata* (*London*, *1904*), p. 755.

41. Kṛṣṇa is : Vṛṣṇiśārdūla ; Vṛṣṇiśreṣṭha ; Vṛṣṇikulaśreṣṭha ; Vṛṣṇikulodvaha ; Vṛṣṇinandana ; Vṛṣṇipati ; Vṛṣṇipravara ; Vṛṣṇipravīra ; Vṛṣṇipuṃgava ; Vṛṣṇisattama ; Vṛṣṇisiṃha ; Vṛṣṇivīra ; Vṛṣṇy-Andhakapati ; Vṛṣṇy-Andhakottama. See Sorenson, *Index,* pp. 755-756.

42. Although some other kinsfolk may be called *vārṣṇeya* (*ī*), or bear an epithet containing the term *vṛṣṇi*—, these are preponderately applied to Vāsudeva-Kṛṣṇa.

43. See discussions in J. A. B. van Buitenen, *The Mahābhārata* Vol I (Chicago, 1973), pp. 10-11 ; Vol. II, pp. 14-17 ; Vol. III (Chicago, 1978), pp. 138-140.

44. See van Buitenen, *The Mahābhārata* Vol. III (5.126.36 ff), pp. 422-423. After this ouster, Kaṃsa's father is reinstated as king of Mathurā, he having been apparently allied to Kṛṣṇa's faction.

45. Cf. B. P. Sinha, *Readings in Kauṭilya's Arthaśāstra* (Delhi, 1976), p. 172.

46. The Supreme Lord, in the Nārāyaṇīya section of the *Mahābhārata*, is Nārāyaṇa. He is an important cosmic god in Vedic literature who later comes to be identified with Viṣṇu. See discussion and bibliography in D. Srinivasan, "God as Brahmanical Ascetic : A Colossal Kushan Icon of the Mathura School" forthcoming in *J. I. S. O. A.* It may be noted that this passage (*Mbh.* 12. 340) explains both the *vyūha* and *avatāra* doctrines and reserves the name Vāsudeva for the first *vyūha*. So also the *Mārkaṇḍeya* passage (4.44-58) mentioned in fn. 2, above.

47. See fn. 48.

48. *Mbh.* 5.22.31. This passage would imply that Vāsudeva-Kṛṣṇa is identical to Viṣṇu. In the *Bhagavad Gītā*, where this identity is not apparent, Kṛṣṇa as the Supreme, says that he is the foremost of each class of beings and as such is Vāsudeva among the Vṛṣṇis (10.37). In the Nārāyaṇīya passage mentioned above, Kṛṣṇa is an *avatāra*. Concerning the developmental stages associated with Kṛṣṇa's divinity, J. Gonda observes that the identification between Kṛṣṇa and Viṣṇu should have occurred between the time of the *Bhagavad Gitā* (*Mbh.* 6.25-42 ; c. 200 B. C.) where he is not yet an *avatāra* of Viṣṇu and *Mbh.* 14.53 where he is (*Die Religionen Indiens* I [Stuttgart, 1960], p. 243).

49. Cf. Srinivasan, "Early Vaiṣṇava Imagery," pp. 50-51.

50. Saṃkarṣaṇa (Balarāma) is the elder brother of Vāsudeva-Kṛṣṇa ; Pradyumna and Sāmba are his sons, and Aniruddha is his grandson, being the son of Pradyumna.

51. This cult is indicated by the Besnagar Garuda Pillar Inscription ; see D. C. Sircar, *Select Inscriptions*, pp. 88-89.

52. Two Mathurā inscriptions may be cited as indicative of Brahmanic activity there during the Kuṣāṇa period. The inscription on a yūpa (Mathurā Mus. No. Q 13) states that the Vedic Dvādaśarātra sattra was celebrated. The Puṇyaśālā Pillar Inscription (Mathurā Mus. No. 1913) records an endowment to the Puṇyaśālā to feed, among others, one hundred Brahmans on a monthly basis ; V. S. Agrawala, *Mathura Museum Catalogue* IV (Varanasi, 1963), pp. 136-140.

53. *Dikṣā* is a rite performed as an initiation or consecration for a particular ceremony ; *dikṣā* was the means enabling the sacrificer to enter into a higher state of existence. J. Gonda, "Dikṣā" in *Change and Continuity in Indian Religion* (The Hague, 1965), 315 ff. Reference to Kṛṣṇa's performance of *dikṣā* is in J. Gonda, *Viṣṇuism and Sivaism* (London, 1970), p. 89.

54. See D. C. Sircar, *Select Inscriptions*, pp. 192-197.

55. See Sircar, *Ibid.*, pp. 90-91. The Ghosūṇḍī inscription offers important evidence for the early merging tendencies within Vaiṣṇavism. Cf. D. Srinivasan, "Early Vaiṣṇava Imagery", p. 51. Sircar (*Religious Life*, p. 21) makes the interesting observation that these inscriptions testify to the spread of the Bhāgavata religion amongst performers of Vedic sacrifices outside of the Mathurā region and Vāsudeva's own clan.

56. *Harivaṃśa* II. 101. 18. One wonders whether a family connection between Ekānaṃśā and Kṛṣṇa is already implied in earlier texts. For example, *Kauṣitaki Brāhmaṇa* XXX. 9 speaks of a Kṛṣṇa Āṅgirasa, and *Mbh.* 3.208. 7-8 states that Ekānaṃśā is the seventh daughter of Āṅgiras.

57. A wife of Kṛṣṇa.

58. Another Vṛṣṇi warrior.

59. Three of these reliefs have been discussed in several very informative papers : P. L. Gupta, "Ekānaṁśā and her Images", *Bihar Res. Society Journal*, Vol. 54 (1968), 229-244 ; N. P. Joshi, "Ekānaṃśā in Early Kuṣāṇa Art", *Journal of the Indian Soc. of Oriental Art*, N. S. II (1967-68), 34-36. I would like to express my sincere appreciation to Dr. N. P. Joshi for valuable discussions in this area which stimulated my interest in Kuṣāṇa triads. The fourth relief comes to my attention through the kindness of Professor van Lohuizen-de Leeuw, who will soon publish the piece. She has informed me that the triad is carved on a weight stone (47 cms. × 25.4 cms. × 5.7 cms.) made of the red Mathurā sandstone. Of importance in the

present context is that the relief depicts, from right to left, Balarāma, Ekānaṃśā and a four-armed Vāsudeva-Kṛṣṇa.

60. Cf. Mathurā Mus. Nos. 39. 2856 ; C 19 ; Lucknow Mus. No. S 758 ; from the Gupta period, see Lucknow Mus. No. J 89.

61. *Mbh.* 6.66.

62. See transl. in F. Otto Schrader, *Introduction to the Pāñçarātra and the Ahirbudhnya Saṃhitā* (Madras, 1916), pp. 152-153.

63. This subject will be considered in a forthcoming paper "Vaiṣṇava Art and Iconography at Mathurā" to be presented at the seminar "The Cultural History of Ancient Mathura" (Jan. 1980).

64. Museum No. H 88 ; N. P. Joshi, *Catalogue of the Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow* (Lucknow, 1972) pp, 89-90.

65. The relief (No. I. 18) is in the Museum für Indische Kunst Berlin. It has been given the same identification as No. H 88, above. See the Museum's *Katalog 1971* (Berlin, 1971), number 98.

66. This identification is also proposed by P. L. Gupta "Ekānaṃśā", 243-244 ; cf. N. P. Joshi, "Ekānaṃśā", 35. W. E. Begley (*Viṣṇu's Flaming Wheel : The Iconography of the Sudarśana-Cakra* [New York, 1973], p. 93) comes to a similar conclusion.

67. However, the lotus which the Gupta texts prescribe is not found on Kuṣāṇa icons of Ekānaṃśā.

68. N. P. Joshi ("Ekānaṃśā", 35) notices these additional features : a single earring in the left ear and a triple crested headgear.

69. Cf. C. R. P. Sinha, "Some Important Sculptural Acquisitions of the Patna Museum", *Journal of the Bihar Research Society* Vol. LIII (1967), 155-160 ; C. R. P. Sinha, "The Kuṣāṇa Art of Bihar", *Journ. of the Bihar Res. Soc.* Vol. LIX (1973), 65-74 ; this trio in the Patna Museum has the following Museum Nos. 11300, 11269, 11301.

70. Cf. Mathurā Museum Nos. C19 ; C15 ; 392-5 ; and the Tumain (M. P.) standing Balarāma.

71. P. Chandra, "Some Remarks on Bihār Sculpture from the Fourth to the Ninth Century", *Aspects of Indian Art* (Leiden, 1972), p. 60.

72. D. Srinivasan, "Early Vaiṣṇava Imagery", 39-54.

73. Note that both the Ghosūṇḍī and Nānāghāṭ inscriptions also record the genealogical, not the metaphysical, order of the Vṛṣṇi hero-gods.

74. Cf. D. Srinivasan, "Early Vaiṣṇava Imagery", 49-51.

Fig. 1. Triad consisting of Saṃkarṣaṇa/Balarāma, Ekānaṃśā and Vāsudeva Kṛṣṇa. Mathurā Museum No. 67.529.

Fig. 2. Triad fragment. Mathurā Museum No. U. 45.

Fig. 3. Triad fragment. Mathurā Museum No. 15.912.

Fig. 4. Samkarshana Balarāma of the Gayā Trio. Patna Museum No. 11300. Photograph: Patna Museum.

Fig. 5. Ekānamśā of the Gayā Trio. Patna Museum No. 11269. Photograph: Patna Museum.

Fig. 6. Vāsudeva-Kṛishṇa of the Gayā Trio. Patna Museum No. 11299. Photograph: Patna Museum.
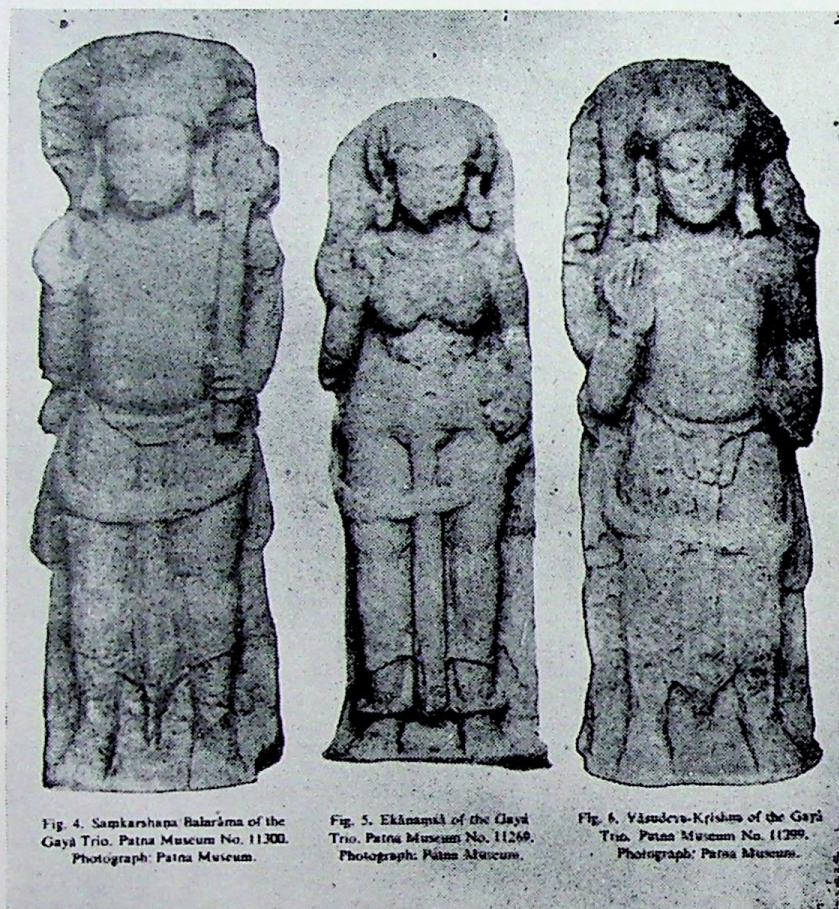
Figs. 4, 5, 6.

75. Mathurā Museum No. 367; H. Lüders, "Seven Brāhmī Inscriptions from Mathurā and Vicinity", *Epigraphia Indica*, Vol. XXIV; 208-210; D. C. Sircar, "Two Brāhmī Inscriptions", *Journ. of the Bihar Research Society*, Vol 39, Pts. 1-2 (1953), 45-48.

76. Cf. S. Jaiswal, *Vaiṣṇavism*, pp. 66-67.

77. *Ibid.*

78. L. Renou, *Vedic India*, Vol. III in *Classical India*; transl. by P. Spratt (Delhi, Varanasi, 1971), pp. 119-120.

79. See A. B. Keith, *The Religion and Philosophy of the Veda and Upanishads*, II. Reprint (Delhi, 1976), 425-432.

80. P. V. Kane, *Hist. of Dharmaśāstra* IV, 654-656; 662 ff.

81. *Mbh.* 3.82.84 : "If one dwells for both the dark and light fortnights at Gayā, he doubtlessly purifies his lineage to seven generations" (van Buitenen, *The Mahābhārata* II, p. 390).

82. Kane, *Hist. of Dharmaśāstra* IV, 669 ff.

83. D. C. Sircar, "Inscriptions from Gayā", *Epigraphia Indica* Vol. XXXIII, Pt. 3 (1959), 103.

84. Kane, *Hist. of Dharmaśāstra* IV, 350-351.

85. M. Monier—Williams, *A Sanskrit—English Dictionary* (Oxford, 1899), p. 230.

86. L. Renou, *Vedic India*, p. 119, A. B. Keith, *Religion and Philosophy* II, 427-429.

87. S. K. Lal, "Lunar Deities *Sinīvālī Kuhū*, *Anumati and Rākā*" *CASS Studies*, No. 2, Univ. of Poona (Poona, 1974), 130.

88. *Ibid.*

89. See pp. 7-8; also see the stimulating remarks of S. Jaiswal, *Vaiṣṇavism*, p. 45.

90. See fn. 63.

REFERENCES OF VĀSUDEVA IN MAHĀBHĀRATA :

१२. सर्ववासं वासुदेवं क्षेत्रमं विद्धि तत्वतः ।
समाहित मनस्काश्च नियताः संयेतन्द्रियाः ।
एकांन्त भावोपगता वासुदेवं विशान्ति ते ॥

Ibid ; XII, 332, 17-18.

OR

सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्येत ।

Ibid ; XII, 335, 7.

१३. अहोह्येकान्तिनः सर्वान्प्रीणाति भगवान्हरिः ।
विधिप्रयुक्तां पूजां च गृह्णाति भगवान्स्वयम् ॥

Ibid ; XII, 336, 1.

१४. एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च ।
परस्परांगान्येतानि पाञ्चरात्रं च कथ्यते ।
एष एकान्तिनां धर्मो नारायण परात्मकः ॥

Ibid ; XII, 336, 76.

KṚṢṆA IN ART—WHETHER TWO-ARMED OR MULTI-ARMED

N. P. Joshi

In the eleventh chapter of Bhagavadgītā (xi.46) or thirtyfifth Adhyāya of Bhīṣmaparva in the Mahābhārata (35.46) Arjuna, the third Paṇḍava requests Kṛṣṇa, his friend and preceptor to appear before him in the 'same' four-armed form with club and wheel in hands instead of the multi-armed universe absorbing (*viśvarūpa*) form which was then made visible to him. At the first sight this verse leads one to believe that in normal daily life Kṛṣṇa appeared before Arjuna in four-armed form, but then the words 'in the same (*tenaiva*)' create problem. Arjuna could have easily asked Kṛṣṇa to appear in his usual form. Four verses afterwards (xi.50) we come across the word '*saumyarūpa*' that is the normal form not causing any fear. This form was adopted by Kṛṣṇa after concealing his *viśvarūpa*. This is not mentioned whether this *saumyarūpa* was two-handed or four-handed.

Difficulty about fixing the exact number of Kṛṣṇa's hands was felt by Rāmānuj-āçārya also, who while commenting upon xi.50 observes, 'The four armed form was the own (*svakīya*) form of Kṛṣṇa, son of Vasudeva, which he had kept concealed till killing of Kaṁsa because of his father's request. Afterwards he revealed it'[1]. This seems to suggest that in the opinion of this Vaiṣṇava Āçārya, in later life Kṛṣṇa had assumed the four armed form. But so far as the Mahābhārata is concerned it is difficult to accept this suggestion, because therein Kṛṣṇa has been very rarely referred to as Çaturbhuja, normally he seems to be moving with two arms only.

While discussing a similar issue in different context Viṣṇuçitta a commentator on Viṣṇu Purāṇa gives a better suggestion (Vi.Pu., v.3.13-14). He opines, 'Till Kaṁsavadha Kṛṣṇa had assumed two armed form, but later on at times, from the spiritual point of view, his characteristic of being four armed became apparent'[2].

Dr. N. P. Joshi, CK. 1/13 Bhonsala Mandir, Patani Tola, Vārāṇasī—221 001.

Thus it would be clear that the problem under consideration had disturbed the scholars in past also and they tried to solve it in their own way. It has been accepted on all hands that Arjuna and Kṛṣṇa were the incarnations of Nara and Nārāyaṇa and different characteristics of Nārāyaṇa viz. *śankha*, *çakra*, *gadā* as emblems and Garuḍa as *vāhana* have often been associated with Kṛṣṇa. In other words Nārāyaṇa himself under the name Kṛṣṇa had assumed the mānuṣya form, which presupposes only two-hands. So it would be reasonable to conclude that in his normal life (*saumyarūpa*) Kṛṣṇa appeared with two arms only, but when he was referred to or described in spiritual (*paramārthataḥ*) terms or mediated upon as Ārādhya, his own that is the Vāsudeva form with four hands was aimed at. This conclusion is mostly based on literary evidence. It would be equally interesting to examine the data in art and sculpture and see what the artists had thought of Kṛṣṇa iconographically. This is what we intend to discuss in the present paper.

It is generally supposed that independent images of Kṛṣṇa as Ārādhya in the field of Indian art appear at a very late stage. He is of course seen prominently as a character in *līlā*-scenes like Kāliya-mardana, Govardhana dhāraṇa, Godohana, Yaśodā-kṛṣṇa, Keśīvadha, etc. This statement can be accepted if we conceive of Kṛṣṇa as Ārādhya only on the lines suggested by the Vaiṣṇava Āçāryas like Nimbārka (c. 1162 A.D.) of Sanakādi sect, Vallabhāçārya (1478-1530 A. D.) of the Rudra sect and Çaitanya Mahāprabhu (1485-1563 A. D.) of Gauḍīya or Mādhva Gauḍeśvara sect. These Āçāryas, their disciples and followers and also some of the very popular poets like Jayadeva (middle 12th century), Vidyāpati (14th century), Çaṇḍīdāsa (15th century), Pançasakhas of Utkala viz. Balarāma, Jagannātha, Yaśovanta, Ananta and Açutānanda radiated very strong influence on Kṛṣṇa Bhakti movement say from 12th to 16th century A. D. and popularised mostly the following forms :

(i) Bālakṛṣṇa, Kṛṣṇa crawling on floor with ball of butter in his upraised right hand.

(ii) Navanīta naṭa, Kṛṣṇa dancing with a ball of butter in his hand.

(iii) Kāliya Kṛṣṇa, Kṛṣṇa dancing on the hoods of the serpent Kāliya.

(iv) Muralīdhara, Veṇugopala, Gopinatha, etc. Kṛṣṇa playing on flute generally two handed but sometimes four handed.

(v) Rādhā Kṛṣṇa, a very common form, Muralidhara standing cross-legged by the side of Rādhā.

(vi) Śrīnāthajī, or Govardhana Nātha, two handed Kṛṣṇa with left hand upraised in the pose of lifting Govardhana. This form is specially worshipped by Puṣṭimārgīyas.

(vii) Govardhana Dhārī Kṛṣṇa lifting the mount Govardhana generally two handed.

(viii) Kṛṣṇa dancing with the Gopīs that is Rāsalīlā.

At the very first glance it can be noticed that all the above forms current onwards about 12-13th century A. D. portray Kṛṣṇa of pre-Kaṁsa-vadha period and are mostly two handed. In the light of what has been said till now it will be reasonable to accept that Kṛṣṇa in terms of post 12-13th century conventions do not appear as Ārādhya in early Indian art. But let us make a brief survey of pre-12th century art and see if Kṛṣṇa is there either depicted independently or as a character in līlā scenes and what is the position of his arms there.

Earliest representation of Kṛṣṇa comes from the numismatic side. Six rectangular bronze coins of Indo-Greek ruler Agathocles (c. 180-165 B. C.) hailing from Aikhanum on the border of Soviet Union and Afghanistan show Saṅkarṣaṇa or Balarāma on the obverse holding plough and club and two armed Kṛṣṇa on the reverse with wheel in left and conch in the right hand. Both the brothers appear in warriors' dress with swords tucked to their belts and huge umbrellas over head.

In the field of sculptures earliest representations are assignable to the Kuṣāṇa age (c. 1st-2nd century A. D.). Among the līlā-scenes of this period mention must be made of Vāsudeva carrying Kṛṣṇa to Gokula (GMM., 17.1344), Kṛṣṇa fighting with horse demon Keśī (GMM., 58.4476) and Kṛṣṇa lifting Govardhana from Rājasthān (Shah U. P., Terracottas from Bikaner, Lalitakala 8, pp. 55-62, Fig. 1). In two of the above scenes excluding Keśīvadha, which is very fragmentary, Kṛṣṇa is seen with two hands only.

As Ārādhya of this period he is seen in a solitary image as Vāsudeva with his *vyūhas* (GMM., 14.392-95). Here Vāsudeva was four armed, now only the two hands of the right side and normal of the left are extant. In another form as Ārādhya he is seen standing with Saṅkarṣaṇa and his sister Ekānaṁśā. This form was quite popular in the Kuṣāṇa age as till now we have at least three panels in the Mathurā Museum (GMM., U. 45, 15.912, 67.529), a group of three independent figures from Bihar in the Patna Museum and also depicted amongst various deities on the Śiva-liṅga from Nand in Rājasthān. In all these sculptures Kṛṣṇa appears four armed.

Seeking apologies for a little diversion, we should take note of the Viṣṇu images of the Kuṣāṇa period in general. All of them depict only one and the same style of holding the emblems viz. *gadā* in upraised extra right, *çakara* in upraised extra left and *śaṅkha* or rarely water bottle in normal left hand. The normal right is raised in *abhaya* pose. In the solitary Vāsudeva image referred to above, the normal and extra right hands are in the same style and perhaps the hands on the left also, which are now mutilated, followed the same fashion. Same arrangement is seen in the Kṛṣṇa figures in the Ekānaṁśā panels. This uniform arrangement of emblems, therefore, leads to suggest that all the Viṣṇu figures of Kuṣāṇa period from Mathurā with at least exception of one (SML., J. 610) are

actually of Vāsudeva Kṛṣṇa, who was the Ārādhya of the Sāttvata Pañçarātra sect, which was so dominant at Mathurā during this age.

Depiction of Vāsudeva Kṛṣṇa as four armed can possibly be interpreted in one more way. The Kuṣāṇa sculptors of Mathurā depicted various incarnations of Viṣṇu always with four hands as would be clear from the Kuṣāṇa Varāha figure (GMM., 65.15), Kuṣāṇa Hayagriva (Bharat Kala Bhavan 4846), Kuṣāṇa Vāmana or Trivikrama (SML., J. 610) and contemporary Narasiṁha figure from Kondomotu. Following the same principle they are likely to have depicted Vāsudeva Kṛṣṇa also with four hands.

Next comes the Gupta period, when the Bhāgavata sect received royal patronage. A good number of Kṛṣṇa *līlā* panels of this period have been reported from different places of the country such as :

(i) Deogarh panels showing Kṛṣṇa with Nanda and Yaśodā, Śakaṭāsura vadha, etc.

(ii) Panel in Bharat Kala Bhavana showing Yaśodā churning the curd (Chavi, Fig. 338).

(iii) Śrāvastī terracotta panel showing Kṛṣṇa Yaśodā (SML., 67.142).

(iv) Yamalārjuna *uddhāra*, Kāliyadamana, Yaśodā Kṛṣṇa etc. from Eran (M. P.)

(v) Stealing of butter, Keśīvadha, etc. from Mandor (Rājasthān).

(vi) Keśīvadha from Vallabhi (Saurāshtra) and Śrāvastī (U. P.).

(vii) Kāliyadamana from Kāṭhmāndu (Nepal) and Aghat, Sankissā (U. P. SML., 67.141).

(viii) Keśīvadha, Kuvalayāpīḍa-vadha, Kaṁsa-vadha, etc. from Bhītargaon (U. P.)

(ix) Kṛṣṇa lifting the mount Govardhana from Vārānasi (U. P.), Mandor (Rajasthan) and even Central Asia.

(x) Dāna līlā from Bīkāner (Rājasthān).

(xi) Kṛṣṇa witnessing the wrestling match between Bhīma and Jarāsaṅdha from Garhwā (SML., H. 88).

(xii) Kṛṣṇa and Arjuna from Deogarh now in the Berlin Museum in West Germany.

It can be clearly noticed that out of the above twelve the first ten are related with the early life of Kṛṣṇa, while only the remaining two deal with his later life and in these two only Kṛṣṇa has been shown four handed. Garhwā figure holds *çakra*, *śaṅkha* and *gadā* clockwise, while the Deogarh image has *gadā*, *çakra* and *śaṅkha*. This gives weight to the view expressed by Rāmānujāçarya which has been already referred to by us.

In the independent Viṣṇu figures of this age, we do not notice any significant

change in the arrangement of the emblems, only that the upraised right hand in *abhaya* comes down and sometimes holds a fruit (*citra phala*) or even a rosary (*akṣa mālā*). Along with the Viṣṇu images his incarnations such as Varāha, Trivikrama, Narasiṁha, Hayagrīva, Hari or Karivarada have been shown with four hands, though two handed incarnation figures are also to be seen. It is likely that some of the contemporary Viṣṇu figures might be depicting Kṛṣṇa as seen in Deogarh and Garhwā panels, but their distinctive marks are difficult to be ascertained as even in the two panels there is no uniformity in the arrangement of the emblems.

As soon as we enter the realm of the post-Gupta art our attention is drawn by a figure of Kṛṣṇa in Viśvarūpa form from Manawā Dih (SML., H. 124). A miniature figure of Arjuna carrying bow and seated with folded hands ensures the identification. Here Kṛṣṇa has been shown with eight arms, but as we now this is not his *saumyarūpa*.

The following *lilā*-scenes assignable to the mediaeval period are noteworthy :

(i) Panels in the State Museum, Lucknow showing Exchange of Babies (SML., 53.2/66.2; 35; 53.168) and Yaśodā Kṛṣṇa (SML., 58.49).

(ii) Govardhanadhārī in the Mathurā Museum (GMM., D. 47).

(iii) Pahārpur and Nālanda panels showing scenes such as Yamalārjuna uddhāra, Keśivadha, Kuvalayāpīda vadha, Govardhanadhāraṇa, etc.

(iv) Panels from Khajurāho (M. P.), Osia, Abu (both in Rājasthān) showing Yaśodā Kṛṣṇa, Śakaṭāsuravadha, Kāliyadamana, Keśīvadha, Kubjā-episode, etc.

(v) Panels in Viṣṇu temple at Avantipur (Kashmir).

(vi) Kṛṣṇa milking the cow in the Kṛṣṇamaṇḍapa at Mahābalipuram (Tāmilnāḍu).

(vii) Images showing Kṛṣṇa-Rukmiṇi and Kṛṣṇa-Rukmiṇi-Satyabhāmā in Madras Museum.

As had been the case in the earlier periods, most of the *lilā*-scenes of the mediaeval period depict early life of Kṛṣṇa but one new development is noteworthy. Unlike the previous practice some of the early *līlā*-scenes too specially at Khajurāho e.g. Śakaṭāsura-vadha, Vatsāsuravadha, Kāliyadamana, Kuvalayāpīḍa-vadha, Kṛṣṇa has been shown four handed obviously to stress the incarnation aspect.

This factor is evinced in some of the independent images of Kṛṣṇa also. A few examples may be cited such as :

(i) Image of Viṣṇu-Kṛṣṇa from Orissā in the Bhuvaneśvara Museum. Here Kṛṣṇa is playing on his flute with the normal hands but also holds *cakra* and *śaṅkha*, in his upraised extra hands. This form is known as Gopinātha also in the Utkala region. The form had gained popularity in South also. We

have seen a four handed Veṇugopāla in South Indian style in the house of late Pt. Kavimanḍana at Vārāṇasī. A similar figure in stone from Begur in in Banglore district is to be seen in the Banglore Museum.

It was current in central India also as we came across a number of metal images of this type hailing from that region (e.g. SML., 79.59 & 79.61).

(ii) Multi-armed composite figure of Veṇugopāla and Govardhanadhārī. This interesting image with eight hands is in the Banglore Museum. Here Kṛṣṇa standing in dancing pose holds *mālā, gadā,* flower but, mountain Govardhana, *ҫakra* and *śaṅkha* in respective hands. Kṛṣṇa is accompanied by milkmaids, cows, Garuḍa, etc.

(iii) In this connection it is worth recalling the image of Gokulanātha at Gokula which is one of the eight *Sevya-Svarūpas* of Puṣṭimārga. Here Kṛṣṇa appears four handed. He plays on flute with his normal two hands, his extra right is raised above in the mount lifting pose and extra left holds a conch. This is again a composite figure of Veṇugopāla and Govardhanadhārī.

(iv) Depiction of Kṛṣṇa in the Vāsudeva form with four hands continued in this age also. For example the image of Dvārakādhīśa at Mathurā and Mathurādhīśa at Jatīpurā near Mathurā, both again amongst the Sevya Svarūpas of the followers of Puṣṭimārga—are holding Vaiṣṇava emblems viz. *śaṅkha, gadā,* lotus and *ҫakra* in case of Dvārakadhīśa and *śaṅkha, padma, gadā* and *ҫakra* in the case of Mathurādhīśa figures.

Multi-armed form of Kṛṣṇa thus has long history behind it, but by twelfth century onwards two handed images of Kṛṣṇa for *ārādhanā* purposes gradually became the fashion of the day and because of the influence of different Vaiṣṇavāçāryas different forms of two handed Kṛṣṇa came in vogue, which have already been enlisted in the previous pages.

CONCLUSION

In a nutshell the following points help us to understand the sculptor's view about the number of Kṛṣṇa's arms :

(1) As a character in the *lilā*-scenes, which mostly portray his early life only, he has been shown with two hands only till c. 10th century A. D.

(2) In this period too when he has been shown as a grown up young man in association with Arjuna, he appears with four hands.

(3) When stress was required to be given on his incarnation aspect he has been shown four handed with *ҫakra* and *śaṅkha* and therefore in his early figures he is perfectly Viṣṇu with all the three emblems.

(4) As *Ārādhya* in the Vāsudeva form he appears four handed.

(5) In the mediaeval period say 10th century onwards even in the *līlā*-scenes he has been shown four handed indicating his incarnation aspect.

(6) Some of the *Ārādhya* figures also of this period have been shown with four hands.

(7) After 12-13th century the four handed form lingers on but comparatively in a very limited way. On the other hand the two handed forms of Veṇugopāla, Bālakṛṣṇa and dancing Kṛṣṇa come in abundance.

(8) Both in the pre-mediaeval and mediaeval periods Kṛṣṇa of post Kaṁsavadha period has been sparingly depicted in the field of sculptures.

Regarding the verses of Bhagavadgītā referred to in the opening paragraph of this paper it seems rational to suggest that Arjuna intended to see Kṛṣṇa in the same four handed form, that is the Vāsudeva form which was his *Ārādhyarūpa* but Kṛṣṇa just concealed his *viśvarūpa* and assumed his normal human form, *saumyarūpa*, with two hands only.

(१) सर्वेश्वरस्य वसुदेव सूनोः चतुर्भुजमेव स्वकीयं रूपं, कंसाद्भीतवसुदेव प्रार्थनेन आकंसवधात् भुजद्वयं उपसंहृत पश्चादाविष्कृत च—गीता ग्यारह—५०

(२) कृष्णस्य चतुर्भुजरूपोषसंहारोक्त्या कंसावधान्तं द्विभुजोपलब्धिः, परमार्थतस्तु चतुर्भुजत्वमेव नरक शिशुपालपौण्ड्रक वधादिषु प्रसिद्धेः————

विष्णु पु० ५, ३, १३-१४

Mythic Society Journal VII, 1911, pp. 65-67.

चतुर्भुज कृष्ण

अथतेनैव मार्गेण शङ्खचक्रगदाधरः ॥२३
आजगाम महाबुद्धिरुन्तङ्कश्चैनमब्रवीत् ।

महाभारत (गीता प्रेस) अश्वमेधपर्व ५५-२३ पृष्ठ ६२१९.

त्वमगाधेऽप्लवे मग्नान् पाण्डवान् कुकसागरे ।
समुद्धर प्लवो भूत्वा शङ्खचक्रगदाधर ॥

महाभारत (गीता प्रेस) डोषपर्व ८३-१७ पृ० ३३१०.

शङ्खिने चक्रिणे नित्यं शार्ङ्गिणे पतिवासर्से
वनमालाधरामैव तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥

महाभारत (गीता प्रेस) शान्तिपर्व ४७ पृ० ४५३६.

यं देवं विदुषो गान्ति तस्य कर्माणि सैन्धव ।
यमाहुरजितं कृष्णं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥७३
श्रीवत्सधारिणं देवं पीतकौशेयवाससम् ।
प्रधानः सोऽस्त्रविदुषां तेन कृष्णेन रक्ष्यते ॥७४

महाभारत (गीता प्रेस) वनपर्व–२७२, ७३, ७४ पृ० १७१३.

द्विभुज कृष्ण

यदि चैतत् कथञ्चित स्याल्लोकपर्यासनं भवेत् ।
घ्न्यां कर्ण—तथा शल्यं बाहुभ्यामेव संयुगे ॥१०६

महाभारत (गीता प्रेस) कर्णपर्व, ८७, १०६ पृ० ४०६४.

हते च तस्मिन् भुजगे किरीटिना
स्वयं विभुः पार्थिव भूतलादथ ।
समुऽडाहाराशु पुनः पतन्तं
रथं भुजाभ्यां पुरुषोत्तभरन्ततः ॥५५

महाभारत कर्णपर्व, ९०, ५५ पृ० ४०८४,

KṚṢṆA LĪLĀ SCENES IN EARLY RĀJASTHĀNĪ SCULPTURES

R. C. Agrawala

TEMPLE AT NAGARĪ

The antiquity of Kṛṣṇa Cult in Rājasthān can be pushed back to the second-first century B. C. The famous Ghosuṇḍī (Nagarī) Inscription of Sarvatāta from Nagarī (near Chittor, ancient Madhyamikā, the seat of the Śivi Republic) bears testimony to the existence of a *Vaiṣṇava* edifice, dedicated to Kṛṣṇa and Baladeva, at Nagarī itself, at such an early stage. This Brāhmī epigraph refers to a massive stone enclosure for the two famous divinities of Brāhmanic pantheon (*'śilā prākāra*). The proper assessment of the entire problem needs further probe because some scholars had previously opined that the Nārāyaṇavāṭikā of Nagarī had enshrined some pūjā-śilā bearing resemblance with the traditional stone Āyāgapaṭas. To me the position seems to have been slightly different. The ancient site of Nagarī temple was examined by me a few years back. The massive stone enclosure at the site of Madhyamikā had originally three copies of the same inscription engraved on stone slabs, one complete version of which is still available in situ on the spot. Other two versions, of course, in a fragmentary condition, are now preserved in the Government Museum at Udaipur. It was such a huge structure of well dressed stones that *the builder was proud enough to have pronounced his activity repeatedly at three places on the same structure in very bold Brāhmī letters*. It was a rectangular enclosure, measuring about 300 feet in length, 150 feet in width, and 9.5 feet in height. And such an extensive structure might have enshrined, on a platform or inside some apsidal temple, colossal stone statues of Kṛṣṇa and Baladeva instead their engravings in the form of *Āyāgapaṭas*. It was during the Śuṅga period that massive Yakṣa statues were being frequently carved in round; even from Mathurā has been reported a contemporary Baladeva statue which is now preserved in the Archaeological Museum at Lucknow. Viewed in this light, we, may very well presume that the contemporary *Nārāyaṇavāṭikā of Nagari had originally*

Sri R. C. Agrawala, Director, Archaeology and Museum, Rājasthān, Jaipur.

housed equally imposing statues of Saṁkarṣaṇa Baladeva and Vāsudeva Kṛṣṇa which might have got destroyed during the Muslim attack of Nagarī and Chittor. Still more interesting is the depiction of these divinities in human form on the contemporary Indo-Greek coins recently excavated by Dr. P. Bernard at Ai-Khonum in Afghanistan. If small coins of foreigners could depict human representation of Kṛṣṇa and Baladeva, the Vaiṣṇava edifice of Nagarī could not have missed their actual worship in human form. An extensive enclosure would have presented an ugly look around a small slab and it were more than life-size statues of Kṛṣṇa and Baladeva, which were being worshipped inside that structure. Stone is still available in abundance in the locality of Nagarī even now a days. In fact the Chittor region witnessed great activity of Vaiṣṇava cult which is amply proved by the recently discovered pre-Kuṣāṇa Brāhmī pillar at Amvaleśvara, near Pratāpgarh, in Chittor district. It refers to the erection of the Pillar (*Śaila bhujā*) by a great devotee of the Bhāgavata cult. The use of phrase *śaila-bhujā* for a stambha (pillar) is equally interesting here.

It is also worth noting that Nagarī was the great seat of Śivis who had issued their coins from the same place. We do not know whether these Śivis were in any way responsible for imparting impetus to the Bhāgavata cult during the contemporary period at Madhyamikā.

Not much is known about the Kṛṣṇa cult in Rājasthān during the early centuries of the Christian era, but for the carving of goddess Ekānāṁśā on the famous Çaturmukha Śiva-liṅga at Nand, near Pushkar Ajmer. This weather beaten unique liṅga, in the form of a pillar, is carved from top to bottom in the traditional art of Mathurā but the Viṣṇu portion depicts two armed Ekānāṁśā on one side, other representations being those of Vāsudeva Kṛṣṇa and Balarāma on other sides of the pillar. The Kuṣāṇa icons of Ekānāṁśā are well known from Mathurā region and the carving thereof on the Śiva-liṅg at Nand is, of course, interesting.

BĪKĀNER TERRACOTTAS

It was about 50 years back that Dr. L. P. Tessitory had discovered some early-Gupta terracctta plaques in Gaṅgānagar district of Rājasthān. Now preserved in the Government Museum at Bīkāner, two representations of Kṛṣṇa cult are sublime products of Indian artistic genius. They were originally fixed into the exterior niches of some contemporary Brāhmanic temple at Raṅgmahal, on the bank of the river Saraswatī flowing nearby. One plaque depicts *Govardhana Dhara Kṛṣṇa which is the earliest extant representation of this līlā of Kṛṣṇa.* Here Kṛṣṇa is shown as a full grown up man with prominent moustaches under the impact of Gāndhāra Art; he puts on a low crown on his head and wears V-shaped necklace in Kuṣāṇa style; the Govardhana mountain in raised

up on his left palm while the right hand has been placed *ckimbo.* The carvings of bulls and cows are equally graphic. In fact such an early *Govardhana Dhara* terracotta plaque has not been reported from elsewhere so far.

Still more important is the other terracotta plaque from Raṅgamahal and depicting Kṛṣṇa's alliance with a milkmaid i.e. *Dāna lilā* of Kṛṣṇa who is depicted as a cowherd (*gopa*) reminding us of the *gopa-veṣasya Viṣṇoḥ* praise in the *Meghadūta* of Kālidāsa (I.15, cited by V. S. Agrawala, *Studies in Indian Art,* Vārāṇasī, p. 223). The milk-maid wears the typical dress i.e. a beautiful skirt as a neither garment which is so stylistic of unmarried girls. Another terracotta of this type has yet to be reported in the realm of Indian Art. This proves beyond doubt that the early Gupta artists of Rājasthān were expert enough in depicting Kṛṣṇa in different iconographic forms in an unusual style. The absence of such early specimens in the Vraja area is quite amazing, though the motif of a milk-maid with a milk pot on her head can well be seen on a Kuṣāṇa railing pillar from Mathurā.

The depiction of the *Śrivatsa* mark on the chest of Kṛṣṇa on the Govardhana plaque from Raṅgmahal, under review, is equally interesting from iconographic point of view and adds to the importance of the panel still further.

MANDOR PILLARS

Explorations and Excavations at Mandor (ancient Māndavyapura, 6 miles from Jodhpur) brought to light two rectangular red sand stone pillars of the Gupta period and each measuring from 12 to 13 feet in height. One of them had some inscription which has become blurred due to weather effect. The top portion, measuring about 6 feet 4 inches in height, presents the Lifting of Govardhana Scene in a superb manner. The lowest panel presents the bulls and cows whereas the top-most portion covers the Govardhana mountain with its prominent peaks infested with serpents and wild animals including one *horse-headed Yakṣī as also in the early art of Mathurā and Sānchī.* The central portion of the Mandor Pillar presents Kṛṣṇa with his left palm uplifting the mountain and right hand placed akimbo. The residents of Vraja, both males and females are quite jubilant. The male persons including Kṛṣṇa, have put on the typical flat necklace (*graiveyaka*) round the neck and rope like girdle below. The peacock crown on the head of Kṛṣṇa adds further to the elegance of the carving which is infact superb in Indian Art, *such a graphic representation of Kṛṣṇa is hardly available elsewhere.* The ladies, in the Mandor panel, profusely cover their fore-arms with bangles in the typical Kuṣāṇa style. Viewed in this light, the Mandor panel preserves all the artistic qualities of the early Gupta period.

The second rectangular pillar from Mandor presents different episodes relating to

the life of Kṛṣṇa i. e. from top to bottom :—

(a) *Dhenuka–Vadha.*

(b) *Ariṣṭāsura-Vadha* which may also be studied in the terracotta art of Bhītargāon (U. P.).

(c) *Keśi-Vadha*, a scene which has been noticed for the first time in the Kuṣāṇa Art of Mathurā and one complete panel has been preserved in some private collection in Pakistan.

(d) *Churning of Butter and Śakaṭa-bhaṅga līlā*, here milk cart is upturned and Kṛṣṇa, lying below, holds a peacock toy (*śakunta-mayūra*) under his right arm as also in the famous Gupta stone panel hand from Deogarh (U. P.).

These carvings from Rājasthān and now preserved in the Govt. Museum at Jodhpur bear ample testimony to the popularity of Kṛṣṇa cult in Rājasthān during the Gupta period. Their workmanship is in no way inferior to the contemporary specimens from Mathurā, Bhītargāon, Vārāṇasī etc. *In some respects Mandore* panels are far ahead and superior in workmanship.

Kṛṣṇa cult continued to remain popular in Rājasthān during the early mediaeval period as well. The 8-9th century famous group of Pratīhāra temples at Osian (near Jodhpur) present a feast of Kṛṣṇa themes on the exteriors, just above the *bhadra-niches.* Their motivation has of course remained a mystery and we are not yet in a position to ascertain the fact. It was during the 9th century that the *Ābhīras* were a meanace in the Jodhpur region and it was in V. S. 918 that a *sarvatobhadra Gaṇapati* pillar was erected in the market at Ghatiyala nearby, after the Ābhīra turmoil was over. We can not say whether the Ābhīras, who are considered to be worshippers of Kṛṣṇa, had anything to do with the construction of Osian temples or for initiating Kṛṣṇa story themes in them though some Pratīhāra rulers themselves were responsible for erecting temples in the region during the contemporary period. It is also worth taking note that *Kṛṣṇa themes are not so much available at other centres of Pratīhāra temples but for Osian. As such, the entire problem needs* a deeper probe and further investigation.

At the same time we should not forget the stray carvings of Kṛṣṇa Līlā scenes such as at Abaneri, Dholpur etc. The last two places depict Baḷarāma attacking the Sūta Lomaharṣana with a plough, a theme which may well be looked into the terracotta art of Bhītargāon as well. The Sun Temple at Osian is worth a reference because one of the pilasters depict four armed Vāsudeva on a Garuḍa on one side and likewise four-armed Baladeva riding a Garuḍa on the other pilaster. Baladeva here carries a conch as well which is quite important from iconographic point of view. As rightly pointed out by Dr. J. N. Banerjea (*Journal of Indian Society of Oriental Art*, Calcutta, Old series, XIV, 1946, Pt. 26-7), this may typify one way of showing *Vyūḍha Saṅkarṣaṇa*, the other being

that where he is depicted like Vāsudeva in all respects; the *Jñāna Mudrā* in one of the hands of Baladeva may typify knowledge and it was he who had expounded the *Sāttvata Vidhi*.

In some early mediaeval Gaja Lakṣmī images from Rājasthān, we notice four armed Kṛṣṇa and likewise four armed Baladeva as attendant figures seated below on both the sides as at Amjhara, Ellora etc. The cult of Govardhana Dhara was quite popular in Rājasthān during the early and mediaeval periods—a fact which is amply proved by the discovery of hundreds of memorial pillars from western Rājasthān. One top niche of such Govardhana pillars contains the figure of Kṛṣṇa holding a mountain on his left palm while the right hand carries the mace of Viṣṇu. The inscription on such pillars sometimes call them as *Kīrttistambhas* on even *Govardhanas*—a term which is used even now a days. This is sufficient to prove that the *cult of Kṛṣṇa was very much popular in Rājasthān during the Rajput periods as well.* Such memorial pillars are still standing on the outskirts of villages, mainly on the banks of tanks and rivers. One early mediaeval inscription from Mandore even mentions Rādhā which according to some scholars is the earliest epigraphical reference to Rādhā. In fact Rājasthānī sculptures have much to add to the Kṛṣṇa cult in Indian Art.

BIBLIOGRAPHY

1. P. Banerjee, *The life of Krishna in Indian Art*, *New* Delhi, 1978.
2. H. Goetz, *The Art and Architecture of Bikaner Ṡtate*, *Oxford*, 1950, plates 3 and 5.
3. U. P. Shah and V. S. Agrawala, *Lalit Kalā* No. 8, K. Deva in Latit Kalā No. 6 for Krishna Lila scenes.
4. R. C. Agrawala's papers in the *Indian Historical Quarterly*, Calcutta, December, 1954, Vol. 30 (4), P. 340-53 Krishna and Balarama in Rajasthan sculptures and epigraphs; *Bhartiya Vidya*, Bombay, 1956, 16 (2), pp. 79-83; *Journal Asiatic Society of Bangal*, Calcutta, 1957, 23(i) pp. 63-64 and plates I-II for Mandore pillars; *Journal of Indian History*, Trivendrum, 1961, 39 (i), pp. 125-127; *Ibid*, 38 (3) for Bikaner Terracottas; *Arts Asiatiques*, Paris, 1965, 11 (2), figure 26 on p. 72......etc., for Krishna legend in the sculptures of Rajasthan. The Dholpur panel has been preserved in the Bharat Kala Bhawan at Varanasi.

वैष्णव-प्रतिमा-लक्षणम्

साधारण-मूर्त्तयः

कार्योऽष्टभुजो भगवांश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णुः ।
श्रीवत्साङ्कितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः ।।

अतसीकुसुमश्यामः पीताम्बर निवसनः प्रसन्नमुखः ।
कुण्डलकिरीटधारी पीनगलोरस्थलांसभुजः ।

खगगदाशरपाणिर्दक्षिणतः शान्तिदश्च चतुर्थकरः ।
वामकरेषु च कार्मुकखेटक चक्राणि शङ्खश्च ।

अथ च चतुर्भुजमिच्छति शान्तिद एको गदाधरश्चान्यः ।
दक्षिणपार्श्वे ह्येवं वामे शंखश्च चक्रं च ।।

द्विभुजस्य तु शान्तिकरो दक्षिणहस्तोऽपरश्च शङ्खधरः ।
एवं विष्णोः प्रतिमा कर्तव्या भूतिमिच्छद्भिः ।।

वृ० स०—५८.

KṚṢṆA SUBJECTS IN INDIAN TERRACOTTA ART

S. C. Kala

There is plenty of literature on Kṛṣṇa. Inscriptional evidence shows that Kṛṣṇa Vāsudeva was worshipped in pre-Christian era. On a silver coin of Agathocles datable to the 2nd century B. C. found in Afghanistān, is seen the figure of Kṛṣṇa and Balrāma.[1] There is also a stone image of Balrāma from Mathurā assigned to the Śuṅga period. But no image of Kṛṣṇa belonging to the pre-Christian era is known in the medium of terracotta.

Very few incidents of Kṛṣṇa's life have been depicted in Indian terracotta art. There is a stone sculpture in the Mathurā Museum showing infant Kṛṣṇa being carried across Yamunā by Vasudeva. It is believed to have been carved during the 2nd century A. D. No subject pertaining to Kṛṣṇa is known in terracotta before the 4th century A. D.

From a site called Raṅg Mahal in the erstwhile Bīkāner State come two interseting brick panels, one depicting Govardhana Dhāraṇa and another dānalīlā and datable to the 4th century A. D.[2] Several stray panels once used in the brick temples were discovered at Raṅg Mahal. It is however not known what principal deity was enshrined in them.

The panel depicting dānalīlā shows a maid, standing on the right, holding a jar on her head supported by her left hand. She wears a torque, necklace, round earrings, bracelets and a skirt with several folds. A scarf covers her head. Its ends fall on either of her sides. A finger of her right hand touches her chin indicating dismay. On the left side stands Kṛṣṇa holding a club in his left hand. He has moustache and wears a short dhotī. His right hand is lost. On the extreme left there is a tree. Another panel from Raṅg Mahal, though much damaged shows Kṛṣṇa holding a mountain in his left hand. His right hand near his chest was probably in *abhayamudrā*. Here also Kṛṣṇa is shown with moustache. On the right side near his legs there is a seated humped bull and on the left a group of three cows.[3] Both these pieces bear influence of Mathurā school of

---

Dr. S. C. Kala, 63E, Stanley Road, Allahabad.

sculpture. A fragmentary plaque from Deogarh shows a lady hiding her breasts with both of her hands. This may relate to the scene of Vastraharaṇa.[4]

The brick temple of Bhītargāon built in the 5th century A. D. was a unique structure. Its exterior was decorated with several panels, most of which are now either lost, or available in damaged condition.

Kṛṣṇa has been identified on certain panels. Some scholars have doubted the identity of the subjects on them. There is however no doubt about the correctness of the scene of Kuvalayāpīḍa, Keśī Niṣūdana and Kṛṣṇa killing Kaṁsa.[5]

Excavations at the site of Sahet Maheth have yielded a few panels depicting subjects related to Kṛṣṇa. Inside an injured semi-circular panel is seen a lady running after a child. It probably shows Kṛṣṇa after doing some mischief, running away and his mother chasing him.[6] Another plaque shows Kṛṣṇa lifting the mountain. As usual his right hand is shown in *abhayamudrā*. A third fragment shows Keśī Niṣūdana scene.[7] The Asura Keśi Niṣūdana in the form of a horse is in terrific fury. Kṛṣṇa whose body is now lost, had struck the animal's chest with his right foot. This subject was very popular and one of its finest representation can be seen on a stone sculpture from Pahārpur.

There is a terracotta fragment said to be from Mathurā showing scene of Kāliyamardan in the Baroda Museum. Unfortunately its upper part is lost. The piece is datable to the 4th century A. D. Another example from Etah is in the State Museum, Lucknow. Ahiçchatrā has yielded a number of terracotta plaques dealing with Paurānic subjects. Rāmāyaṇa subjects are conspicuous by their absence at the site. There is a solitary panel depicting Kṛṣṇa and Balrāma from the site of Ahiçchatrā.

This plaque which is housed in the Allahabad Museum depicts scene of the kidnapping of Balarāma by demon Pralambāsura. On the left side the demon is lying crouched under pressure with his head lifted. His left hand rests on the ground. The demon has deep sunken eyes and a fearful look. On his back is Balarāma. His right hand, now broken was probably lifted for striking the demon. Balarāma has a longish face and his hair is arranged in a bunch at the top of the head. He wears a torque, containing a wheel shaped pendant, round earrings and bracelets. A braided hair lock is flowing on either side of his head. On the left side is seen Kṛṣṇa with his left leg resting on the back of the demon. Kṛṣṇa's left hand is also lifted for striking the animal. The panel belongs to the late 5th century A. D.

The site of Pahārpur has yielded a good number of stone sculptures and terracotta panels depicting scenes from Kṛṣṇa's life. In one terracotta panel there is a child holding a pitcher. In another example a lady is churning milk and a child stands by her side, The child in these examples is definitly Kṛṣṇa.

Kṛṣṇa subjects became more prominent in stone sculptures during the medieval period. But there are very few examples in the medium of terracotta. It was probably because the terracotta medium had sunk to a secondary position during the period. During the 18th and 19th century A. D. a large number of brick temples came up in Bengal. The exterior walls of these temples were embellished with panels containing a wide range of Paurānic and epic subjects. It is here for the first time that we see several scenes of Kṛṣṇa's life depicted in individual temples. The scenes are well laid in panels and look impressive but there is no artistry about them.

REFERENCES

1. Arts Asiatique, Tomme, XXVI, P. 99-106.
2. Goetz, Art and Architecture of Bīkāner 1950, Oxford, Fig. 3.
3. Ibid, Fig. 5.
4. Memoir Archaeological Survey of India, No. 70, Pl. XXI (a).
5. Bulletin of Museums and Archaeology, U. P., No. 8, P. 31.
6. Memoir Archaeological Survey of India, No. 55, Pl. XXVIII-9.
7. Journal of the Oriental Institute, Vol. I, No. I, Pl. I.

हरिहर प्रतिमालक्षण

२१. शिवनारायणं वक्ष्ये सर्वपापप्रणाशनम् ।।

२२. वामार्धे माधवं विद्याद् दक्षिणे शूलपाणिनम् ।
बाहुद्वयञ्च कृष्णस्य मणिकेयूरभूषितम् ।।

२३. शङ्खचक्रधरं शान्तमारक्तांगुलिविभ्रमम् ।
चक्रस्थाने गदां वापि पाणौ दद्याद्गदाभृतः ।।

२४. शङ्खञ्चैवेतरे दद्यात् कट्यर्धं भूषणोज्वलम् ।
पीतवस्त्रपरीधानं चरणं मणिभूषणम् ।।

२५. दक्षिणार्धे जयभारमर्धेन्दुकृतभूषणम् ।
भुजङ्गहारवलयं वरदं दक्षिणं करम् ।।

२६. द्वितीयञ्चापि कुर्वीत त्रिशूलवरधारिणम् ।
व्यालोपवीतसंयुक्तं कट्यर्धं कृत्तिवाससम् ।।

२७. मणिरत्नैश्च संयुक्तं पादं नागविभूषितम् ।
शिवनारायणस्यैवं कल्पयेद्रूपमुत्तमम् ।।

मत्स्यपुराण—२५९/२१-२७

WORSHIP OF VĀSUDEVA-KṚṢṆA IN ANCIENT INDIA BASED ON ARCHAEOLOGICAL EVIDENCES

R. C. Singh

Several centuries before the Christian era Mathurā had become the centre of Bhakti cult. This cult centered round the worship of Vāsudeva-Kṛṣṇa who was regarded as a divine incarnation in human form. Kṛṣṇa was considered to be the incarnation of Viṣṇu. In the Pāṇini's Aṣṭādhyāyī there is a reference to the worship of Vāsudeva and his associate Arjuna (Vāsudevārjunābhyām vuṇ, IV. 3.98) whose devotees or followers were known as Vāsudevakas and Arjunakas. This evidence is indicative of high antiquity of the religious worship of Kṛṣṇa.

In the Mahābhārata Śāntiparva there is a long discourse known as the Nārāyaṇīya Pūrvādhyāya in which we find the worship of God Nārāyana as the regular feature of religious belief and side by side reference is also made to the Sattvata doctrine amongst the Bhāgavatas the followers of whom were known as Ekāntika. Against these religious background can be explained the large number of Sculptures of Brahmanical gods and goddesses in the Mathurā school of sculptures.

Mathurā has yielded several inscriptions mentioning the temples of the God Vāsudeva. In one of these shrines in the village of Morā, about 8 kilometres from Mathurā city, some fragmentary sculptures consisting of male torsos were found. The accompanied inscription specifies them as Five Vṛṣṇi Heroes (पंच वृष्णि वीरा) which included Kṛṣṇa, Balarāma (his elder brother), Pradyumna (his eldest son by Rukmiṇī), Aniruddha (Pradyumna's) and Sāmba (his son by Jāmbavatī). Mention of the Pañça Vṛṣṇi Vīrās if interpreted as Kṛṣṇa, Balarāma, Pradyumna, Aniruddha and Sāmba pre-supposes the prevalence of the Çaturvyūha Cult whose in barring Sāmba the names are common. It appears that his cult of Kṛṣṇa worship was almost as old as Buddhism and was one of the popular cults that has been mentioned in early Buddhist and Jaina texts.

Sri R. C. Singh, Director, State Archaeological Organization, U. P., Lucknow.

Particular attention may be drawn to the archaeological evidences available in the form of the following epigraphs :

(i) Ghoṣuṇḍī inscription which refers to the Gods Saṃkarṣaṇa and Vāsudeva and their religious shrine called Nārāyaṇavātikā which was enclosed by a railing and had in its centre a stone slab for worship.

(ii) Bhilsā inscription engraved on an octagonal Garuḍa pillar erected in the year twelfth of the Bhāgavat king in the shrine of God Vāsudeva (गोमतीपुतेन भागवतो प्रासादोत्वतमस गरुड़ध्वजकारितो द्वादशवशाभिषिते—भागवते म).

(iii) Besnagara Garuḍa-dhvaja inscription of the Greek ambassador Heliodorus in which he calls himself a Bhāgavata.

(iv) Mathurā doorjamb inscription of Vasu mentioning the building of a Mahāsthāna, the great shrine of Bhagavāna Vāsudeva which had a Vedikā, Toraṇa and Çatuhśalā. This inscription is of exceptional importance because therein the name of the king Vasu is mentioned. According to Nārāyaṇīya Pūrvādhyāya king Vasu was the supreme patron of the Nārāyaṇī and the Sattvata Dharmas. Vasu of this inscription was a contemporary of (we learn from this inscription) Mahākṣatrapa Śodāṣa.

(v) Morā well inscription engraved on a long stone slab mentioning a stone temple (शैल देवगृह) in which images (अर्चा) of the Five Vṛṣṇi Heroes (भगवतां वृष्णीणां पंचवीराणां प्रतिमा) were enshrined.

(vi) Excavations at Malhar (Bilaspur District) in Madhya Pradesh have brought to light a Çaturbhuja Viṣṇu of 2nd century B. C.

(vii) One of the earliest anthropomorphic representations of Viṣṇu is the figure on a coin issued by the Indo-Greek King Agathicles (200 B. C.).

From the above inscriptions one can infer as follows :

(a) The kings and rulers who patronised the Bhāgavata cult took pride in stylising themselves as Bhāgavatas.

(b) The new cult attracted devotees from all classes of people including foreigners like Heliodorus. It shows that the doors of the Bhāgavata religion were open without distinction of class or rank to the widest range of people.

(c) Viṣṇu was worshipped either alone as Vāsudeva or sometimes in a pair as Vāsudeva and Saṃkarṣaṇa and at other times in a group ; Five Vṛṣṇi Heroes representing the Vyūha or litany in the Bhāgavata religion.

(d) The two deities Saṃkarṣaṇa and Vāsudeva are regarded as supreme under the

epithet Lord of all (सर्वेश्वर) admitting their pre-eminent position in the entire pantheon.

(e) The religious shrines built for the worship of Vāsudeva and his associates were known as Mahāsthāna (Mathurā doorjamb inscription) which clearly points to the preferential position of the shrine of the Bhāgavatas over the shrine of the other deities. It shows that the Bhāgavatas initiated as regular building activities of religious monuments which designated as Prāsāda (देवगृह) actually signify temples in later architectural history.

In the case of the Ghoṣuṇḍī monument, called the Nārāyaṇa Vāṭikā, the earliest shrine of the Bhagavatas took the form of an enclosure or an open quadrangle having a stone railing around and a stone slab (पूजाशिला) in the centre. This was known as the Nārāyaṇa Vātikā in the popular language of those times. It may be presumed that later on four gateways were also added to the railings as mentioned in the Mathurā doorjamb inscription (चतुश्शाल तोरण वेदिका) built in the Mahāsthāna of God Vāsudeva.

(f) With the institution of regular shrines in the Bhāgavata cult it goes without saying that actual images representing the divine character of deities like Vāsudeva Saṃkarṣaṇa etc. were set up in the form of stone images. Fortunately we have found at the Morā shrine, stone torsos representing the Vṛṣṇi Heroes. Their style closely follows that of the free standing Yakṣas which are carved in the round. They are dressed in a *dhotī* and *uttariya* and some types of ornaments as found on the Yakṣa figures. Their right hand is held in *Abhayamudrā* and the muscles of the breast and body generally are emphasised like those in the Yakṣa statues. The only noticeable distinction is in the size of those two groups of images whereas the Yakṣa statues are of a grandiose style of colossal size—these Bhāgavat images are comparatively smaller figures. It appears that this delineation of the size of images was a developing tendency and the same may be said with regard to Bodhisattva images.

Thus early formulation of the Brahmanical stone images representing the deities of the Bhāgavata pantheon was a fact of supreme value in the evolution of image worship in ancient India. Surely this movement brought about far reaching changes in the religious ideas of the people of all other orthodox and heterodox sects.

Mathurā was the centre of Viṣṇu worship from very early times, may be from the 4th century B.C. We have clear archaeological proof in the form of Viṣṇu images and inscriptions right from the Śuṅga period in the 1st century B. C. when the Mahākṣatrapa Rajuvula and his son Śodāṣa became the rulers of Mathurā.

In the Kuṣāṇa period, however, regular images of Viṣṇu began to be made. We find several types of such images in the Mathurā school of sculptures of this period, for example four-armed standing images wearing a *Mukuta* on the head and other ornaments on the body and dressed in *dhoti* and scarf. Position of the four hands is rather remarkable. The right hand is held in *Abhayamudrā*, the corresponding left hand is placed near the hip and holds a nectar glass (*amṛtghata*), the two extra hands a club (*Gadā*) and wheel (*Çakra*) respectively. If the two extra hands are excluded, the earliest form of Viṣṇu is exactly similar to that of the Bodhisattva Maitreya and both must be taken to be the products of the same formula.

In the Gupta period we come across three types of Viṣṇu images in the Mathurā school : (1) Standing images of Viṣṇu alone with four arms holding four attributes, (2) The Nṛsiṁha Varāha Viṣṇu with a central human face and a Varāha projecting on one shoulder and a lion face on the other. This composite image is very often described in the Paurāṇic literature and is also described as the images of Mahāviṣṇu or Viśvarūp Viṣṇu, i.e. Viṣṇu in cosmic form. In the Gupta sculptures of the Mathurā school a few important images of this type have been found.

There is a special group of images in which besides the two extra heads of Varāha and Nṛsiṁha, the number of other divine figures like the eight Vasus, eleven Rudras and twelve Ādityas etc. are also depicted on the halo of the Viṣṇu figure as forming part of his litany. These typical examples represent Mahāviṣṇu in his cosmic form.

Viṣṇu sleeping on serpent Śeṣa (शेष) is the third type of Viṣṇu images depicted in Gupta period. This was an iconographical representation of the cosmic legend of creation. Here Viṣṇu is that Who is all pervasive.

Apart from the above, details of Kṛṣṇa's life and his various exploits began to be depicted in the sculptures of the Gupta period, for example lifting of the mount Govardhan, subdueing the serpent Kāliya in Mathurā art, Śakata līlā in the Brahmanical temple at Deogarh, Dhenukāsura līlā and scenes of Rādhā-Kṛṣṇa love sports in the panels of the stūpa at Pahārpur (which are of some later date).

Several other scenes are depicted on terracotta plaques from the site of Sūratgarh (Bīkaner), Śrāvastī and also in the panels of Bhītargāon brick temple in Kānpur district. A few terracotta panels of Bhītargāon brick temple depicting Viṣṇu and exploits of Kṛṣṇa can be described as follows :—

(1) VIṢṆU ON GARUḌA

The next image from right to left in the first tier on the east face of the temple architecture is that of Viṣṇu seated on Garuḍa. He is holding *Çakra* with his lower left hand, while his other hands as well as head and legs are broken. He is wearing a broad

girdle and a bracelet. Garuḍa is wearing a slender indented torque and a girdle. The only remaining left wing is shown fluttering.

(2) VARĀHA

On the west view of the temple the figure of Viṣṇu in his boar incarnation is fixed in the same tier. Here the Boar is uplifting the earth personified by his left hand, while his right is placed akimbo. The figure is wearing Vaijayantī-mālā made of lotus flowers and leaves. Making garland of lotus flowers along with the lotus leaves is a characteristic of Kuṣāṇa art which continued to be in practice during the Gupta period also. The Boar is wearing a girdle which is visible only in part on his right hip. He has a loin cloth and a full blown stalked lotus is seen just in the upper left corner of the panel as if serving an umbrella over the deity. It was perhaps being held by an attendant traceable near the right knee of the deity.

(3) EIGHT-ARMED VIṢṆU

In the same tier on the north face of the temple, the figure of Viṣṇu is depicted standing with two attendants or Āyudha Puruṣas. The figure is eight-handed. Upper hands to the right hold arrow and club; while one of the remaining two rests on the shoulder of a female figure. The normal right touches the right thigh. Hands on the left have bow, disc and conch; while the remaining one is seen resting on the shoulders of the corresponding attendant. Viṣṇu is seen with knee reaching Vaijayantīmālā made of lotus flowers and leaves. He is wearing a girdle, a crude torque and armlets. A crown is seen over his head and the hair arranged in spiral locks.

(4) KṚṢṆA-BALARĀMA

This is a very interesting panel divided into two compartments. In the upper compartment a four-handed figure is sitting with his right leg suspended below. His upper raised right hand is turned towards the head, while the normal one rests on the knee. The left upper hand has suffered badly. The normal left is seen over the left knee.

Another figure on the right of the panel in the same compartment has only two arms and bears a canopy of seven-hooded snake, not very well preserved. In between these two stands a badly injured male figure. Because of its bad state of preservation, identification of the panel is not very easy. Four-handed figure on the left side and the right one bearing snake hoods suggest the identification as Viṣṇu with his ever associated attendant, the cosmic serpent Śeṣa—corresponding to Kṛṣṇa and Balarāma. The suggestion, though tempting, cannot be accepted as very convincing unless it is possible to account for the standing figure seen in between the two.

The lower compartment of the panel contains some human figures which are now beyond recognition.

(5) VIṢṆU KILLING MADHU-KAITABHA

Southern view of the temple contains a row of small panels designed on semi-circular window (gavakṣa) pattern.

One of these panels presents a very interesting scene, perhaps unique of its own type in whole realm of Gupta and pre-Gupta art. Here we find a two-handed powerful male figure subdueing two other persons simultaneously by means of catching hold of their necks against his own bent knees. The subdued figures have their hair made in top-knot and put on half-sleeved tunics. One of them carried a heavy mace, which can be seen lying near his head.

The scene can be well identified as Viṣṇu successfully winning over the twin demons Madhu and Kaitabha, who were once enjoying immense power, as Mahābhārata tells us, due to the boons from Brahmā. None, but Viṣṇu could stand against them. He too ultimately put them down after a continuous wrestling for hundred years. In the end both of them met their death on the thighs of Viṣṇu.

(6) KṚṢṆA-LĪLĀ-SCENE

This panel of the same tier depicts a wrestling scene. Due to the disc-shaped pendant in neck-ornament of the overpowering wrestler, one is inclined to identify the panel as Kṛṣṇa administering blows to a demon.

(7) On the western view of the same tier Kṛsna is seen overpowering the elephant Kuvaliyāpīḍa.

जैन साहित्य और कला में श्रीकृष्ण

ज्योति प्रसाद जैन

जैन परम्परा में वासुदेव कृष्ण का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। वह त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के नाम से प्रसिद्ध सर्वोपरि महत्व के पुराणपुरुषों में परिणित नारायण पदधारी, भरतार्द्ध के एकछत्रस्वामि, त्रिखण्डी अर्धचक्री, प्रबल प्रतापी, महापराक्रमी, परम तेजस्वी सम्राट, विलक्षण राजनीतिज्ञ एवं कूटनीतिज्ञ, महाबली, अप्रतिहत, अपराजित, ओजस्वी, वर्चस्वी, यशस्वी युगपुरुष थे। साथ ही वह बड़े सानुक्रोश-दयालु, मत्सर-विहीन, मृदुप्रकृति, मंजुल-मुकुलमुख, शरणागतवत्सल एवं शरणयोग्य थे।

विभिन्न भाषाओं, विधाओं एवं शैलियों में रचित अधुना ज्ञात छोटी-बड़ी शताधिक जैन साहित्यिक कृतियों में इस महापुरुष का व्यक्तित्व एवं कृतित्व उजागर हुआ है। इतना ही नहीं उनके कई पूर्वजन्मों तथा अवशिष्ट आगामी दो जन्मों का वृतान्त भी प्राप्त होता है—उक्त द्वितीय जन्म में वह तीर्थंकर के रूप से जन्म लेंगे और लोक कल्याण करके अन्ततः निर्वाण लाभ करेंगे, अर्थात् अक्षय अविनाशी सिद्धत्व, शिवत्व या परमात्मपद प्राप्त करेंगे।

जैन साहित्य में उनके स्वयं के अतिरिक्त, उनके वंश, कुल, परिवार के सदस्यों-पितामह, पिता ताऊ-चाचा, भाई-बहिन, बन्धु-बान्धव, माता, मातामह, मातुल आदि, पद्मावती, सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि सोलह हजार पत्नियों, प्रद्युम्न, शाम्ब, प्रभृति यशस्वी पुत्रों, पौत्र अनिरूद्ध, कौरव, पाण्डव आदि मित्रों, कंस, जरासन्ध, शिशुपाल प्रभूति शत्रुओं के भी इतिवृत प्राप्त होते हैं। कृष्ण कथा से सम्बद्ध शौरीपुर, मथुरा, द्वारिका, जूनागढ़, गिरिनगर, हस्तिनापुर, काम्पिलत्यपुरी, राजगृह पाण्ड्य मथुरा आदि नगरों के वर्णन भी हैं।

इस विषय में सन्देह के लिये कोई अवकाश नहीं है कि जैन अनुश्रुति के यह वासुदेव नारायण कृष्ण, जो (बलभद्र) पदधारी शलाकापुरुष हलधर बलराम के अनुज और बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के चचेरे भाई, अभिभावक, भक्त एवं श्रावकोत्तम हैं, श्रीमद्भागवत, महाभारत एवं भगवद्गीता की प्रसिद्धि

डा० ज्योति प्रसाद जैन, ज्योति निकुञ्ज, चारबाग, लखनऊ।

के यदुवंशी भगवान कृष्ण से अभिन्न हैं। जैन परम्परा को अवतारवाद मान्य नहीं हैं, अतएव यहाँ यह भगवान विष्णु के अवतार नहीं है, वरन् एक विशिष्ट शलाकापुरुष, नारायण एवं भावी तीर्थंकर हैं। कतिपय गौण यद्यपि मौलिक अंतरों को छोड़कर उनका सम्पूर्ण जीवनवृत्त, जन्म से मृत्यु पर्यन्त, प्रायः ब्राह्मणीय कृष्ण कथा जैसा ही है। वसुदेव-पत्नी देवकी द्वारा अपने भाई कंस के घर मथुरा में उन्हें जन्म देना, वसुदेव द्वारा उन्हें तत्काल गुप्तरूप से गोकुल में नंदगोप एवं यशोदा के यहाँ पहुंचाना, वहाँ उनका लालन-पालन, बाल-लीला आदि सब वर्णन हैं। किन्तु गोपियों के साथ रासलीला व राधा-प्रसंग नहीं है। कंस द्वारा बालकृष्ण की हत्या के विफल प्रयत्न, अन्ततः कृष्ण द्वारा कंसबध, जरासंध से प्रतिद्वन्दता, भीषण युद्ध, द्वारिका पलायन, जरासंध का पराभव, सुभद्राहरण, द्रोपदी स्वयंवर, रुक्मिणीहरण, पाण्डव-कौरव प्रसंग एवं भारत-युद्ध, द्वारिका विध्वंस और जरत्कुमार के बाण से वन में मृत्यु को प्राप्त होना आदि सभी घटनाओं का वर्णन हैं। जैन कथा की विशेषताओं में से एक रोचक विशेषता यह है कि जब कि ब्राह्मणीय कृष्ण साहित्य में वसुदेव एक प्रायः उपेक्षित पात्र हैं, केवल दो बार एक जन्म के समय और दूसरे कंसबध के अवसर पर ही उनका उल्लेख हुआ है--जैन साहित्य में (कामदेव) वसुदेव के जीवनवृत्त, भ्रमण वृत्तान्तों, साहसिक कार्यो एवं अनेक प्रेमविजयों का बिस्तार के साथ विशद वर्णन हुआ है। दूसरे, जैन परम्परा में कृष्ण की अपेक्षा उनके चचेरे भाई नेमि जिन (आरिष्टनेमि) का तीर्थंकर होने के नाते अधिक महत्व है। किन्तु नेमिचरित के साथ भी कृष्णचरित गुथा हुआ है। अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवनवृत्तों में भी प्रसंगतः कृष्ण के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के अनेक पक्ष मुखर हो उठते हैं।

कृष्ण विषयक जैन साहित्य की वर्गीकृत सूची निम्नवत है :--

(क) यतिवृषभाचार्य (२ री शती ई०) कृत प्राचीन प्राकृत ग्रंथ (तिलोयपण्णति) तथा आशाधरीय त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (१२वीं शती) जैसे ग्रंथों में नारायण कृष्ण के संक्षिप्त उल्लेख हैं।

(ख) श्वेताम्बर परम्परासम्मत कई एक आगम सूत्रों, यथा स्थानांग, समवायांग, ज्ञाताधर्मकथांग, प्रश्नव्यारणांग, सूयप्गडांग, अन्तकृतदशांग, उत्तराध्ययनसूत्र तथा निरयावलिका में कृष्ण चरित सम्बन्धी फुटकर सूचनायें यत्रतत्र प्राप्त हैं, जिन्हें एकत्र एवं व्यवस्थित करने से जैन कृष्ण कथा का एक अच्छा अंश उपलब्ध हो जाता है।

(ग) जिनसेनीय हरिवंशपुराण (७८३ ई०) में हरिवंश की उत्पत्ति, विस्तार, यदु, शूर, अन्धक-वृष्णि आदि कृष्ण के पूर्वपुरुषों, समुद्रविजय आदि दश भ्राताओं, जो दशार्ह कहलाते थे और जिनमें कृष्ण के पिता वसुदेव सबसे छोटे थे, वसुदेव का विस्तृत जीवनवृत, कृष्ण का पूर्ण जीवनवृत, अरिष्टनेमि चरित्र, प्रद्युम्न आदि कई वंशजों के चरित्र, पांडव-कौरव प्रसंग आदि का वर्णन है। कालान्तर में अन्य अनेक हरिवंशपुराण लिखे गये यथा—गुणवर्म (८८६ ई०) कन्नण में, धवल कवि (ल० १००० ई०) कृत अप्रभ्रंश में, बंधुवर्म (ल० १२०० ई०) कन्नड़, ब्रह्मजिनदास (१४२०-७० ई०) कृत संस्कृत एवं हिन्दी पद्य में रइघू (१४२३-५८ ई०) कृत अपभ्रंश, यशः कीर्ति (१४३०-५० ई० कृत अपभ्रंश, रामचन्द्र पण्डित (ल० १४५० ई०) संस्कृत, श्रुतकीर्ति (९४९५ ई०) अप०, ब्रह्मनेमिदत्त (१५००-३५ ई०) संस्कृत, श्रीभूषण (१६१८ ई०) सं०। धर्मकीर्ति (१६१४ ई०) सं०, सालिवाहन (१६३८ ई०) हि०, खुशालचन्द काला (१७१७-४८

ई०) हि०, दौलतराम कालसीवाल (१७२०-४२ ई०) हि०, लखमीदास (१७७२ ई०) हि०, इत्यादि । इन सबका प्रधान आधार पूर्वोक्त जिनसेनीय हरिवंशपुराण ही है, भाषा, शैली, संक्षेप-विस्तार, रुचि आदि के ही अन्तर मुख्यतया हैं ।

(घ) २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ बलभद्र, और ९ प्रतिनारायण नामक ६३ शलाका पुरुषों का पुराण महापुराण कहलाता है, जिसमें इन सब महापुरुषों तथा कामदेव, नारद आदि अन्य कई प्रसिद्ध विशिष्ट पुरुषों एवं १६ शतियों आदि के चरित्रों आदि का क्रमशः वर्णन होता है । सर्वप्रसिद्ध एवं प्राचीनतम उपलब्ध महापुराण जिनसेन-गुणभद्र कृत (ल० ८५० ई०) है । इसके पूर्व भी ३री से ५वीं शती के बीच, कवि परमेष्ठि, नन्दिमुनि. कूचभट्टारक आदि के महापुराण रचे वताये जाते हैं किन्तु वे उपलब्ध नहीं हैं । उपरोक्त महापुराण का आधभाग जिनसेन स्वामी द्वारा रचित है, उसका शेष भाग (उत्तर पुराण) के नाम से प्रसिद्ध है और गुणभद्र द्वारा निबद्ध है । इस उत्तर पुराण के अन्तर्गत २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के पुराण में उक्त तीर्थंकर बलभद्र पदधारी बलराम, नारायण कृष्ण, प्रतिनारायण जरासंध, कामदेव पदधारी वसुदेव एवं प्रद्युम्न, तथा अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों का चरित्र वर्णित है । इसके उपरान्त कई अन्य महापुराण लिखे गये हैं, यथा—

पुष्पदंत (९५९-७४ ई०) कृत०, तिसदि महापुरूष गुणालंकास (महापुराण), चामुण्डराय (९५५-८५ ई०) कृत कन्नड़ त्रिषाष्टिलक्षण महापुराण ।

मल्लिसेन (१०४७ ई०) कृत संस्कृत महापुराण, हेमचन्द्राचार्य (१००९-७२ ई०) कृत त्रिषऽष्टि शलाका पुरुष चरिन्त, शीलांकदेव (८६० ई०) प्राकृत चौपनपुरुषचिरियं ।

श्रीचन्द्र (१०२०-३५ ई०) कृत संस्कृत पुराणसार, दामनन्दि (ल० १२०० ई०) कृत संस्कृत पुराणसार, महासेन (ल० १२५० ई०) कृत संस्कृत महापुराण, सकलकीर्ति (१३९५-१४४२ ई०) कृत संस्कृत पुराणसार, रैघू (१४२३-५८ ई०) कृत अप० महापुराण, ब्र० कामराज (१५९८ ई०) कृत संस्कृत जयपुराण, म० जिनेन्द्रभूषण (१७७०-१८२५ ई०) कृत हिन्दी महापुराण, दौलतराम कासिलीवाल (१७२०-४२ ई०) कृत उत्तर पुराण वचनिका हिन्दी गद्य आदि ।

(ङ) तीर्थंकर नेमिनाथ के चारित्रातमक पौराणिक काव्य उपलब्ध हैं, यथा—स्वयम्भू, (७८०-०५ ई०) कृत अप० अरिष्टनेमि चारिउ, हरिभद्र सूरि (७३०-८२० ई०) कृत प्राकृत नेमिनाथ चारिउ, सूराचार्य, (१०५३ ई०) कृत संस्कृत नेमिचारित्र, गुणवीर पण्डित (११०० ई०) कृत तमिल नेमिनाथम्, हेमचन्द्र मलधारी (११०७-२३ ई०) कृत प्राकृत नेमिनाथ चरित, कर्णपार्य (११४० ई०) कृत कन्नड़ नेमिनाथ पुराण, हरिभद्र (११५९ ई०) कृत प्राकृत नेमिचारिउ, रत्नप्रभ (११६६ ई०) कृत प्राकृत नेमिनाथ चरित्र, नेमिचन्द्र (११७० ई०) कृत कन्नड़ अद्वनिमिपुराण, अमर कीर्ति (११८५-१२१७ ई०) कृत अपभ्रंश नेमिनाथ चरित, आमन कवि (१२०० ई०) कृत संस्कृत नेमिचरित महाकाव्य, उद्धव प्रभ (१२४२ ई०) कृत संस्कृत नेमिनाथ चरित हरिभद्र (ल० १२५० ई०) कृत प्राकृत नेमिनाथ चरित्र, महाबल (१२५४ ई०) कन्नड़ नेमिनाथ पुराण, जिनप्रभुसूरि (१२९५-१३३० ई०) कृत अपभ्रंश नेमिनाथरास, लक्ष्मण (१४०० ई०) अपभ्रंश नेमिनाथ चरित्र,

माणिकयदीप (१४०० ई०) कन्नड़ नेमिनाथ पुराण, दामोदर (१४२५ ई०) कृत अपभ्रंशणमिणहचरिउ कीर्तिराज उपाध्याय (९४६८ ई०) संस्कृत नेमिनाथ महाकाव्य, ब्रह्मचारी नरसिंह (१४६८ ई०) संस्कृत नेमिनाथ चरित्र, हेमचन्द्र (१४९४ ई०) संस्कृत नेमिनाथ पुराण, ब्र० रायमल्ल (१५५९-७६ ई०) हिन्दी नेमिश्वरास, रूपचन्द्र (१६३५ ई०) हिन्दी नेमिनाथरास, लखदेव (१६५० ई०) हिन्दी नेमिनाथ चारित्र, झांझषा (१७७० ई०) संस्कृत नेमिनाथ चारित्र काव्य, नेमिचन्द्र पण्डित (१७१२ ई०) हिन्दी नेमिश्वररास, बखतावर रतनलाल (१८५२ ई०) हिन्दी पद्य नेमिनाथ पुराण आदि।

(च) तत्कालीन एवं तत्सम्बन्धी अन्य व्यक्तियों के चरित्र—प्राचीन प्राकृत ग्रंथ, धर्मदास गणी, कृत वसुदेव हिन्दी (छठी शती) में वसुदेव के भ्रमणवृतान्त एवं साहित्यिक कार्यो आदि का रोचक वर्णन है। अपभ्रंश कवि चतुर्मुख (सातवीं शती) नें एक:हरिपाण्डव कथा: लिखी बताई जाती है किन्तु वह अनुपलब्ध है। महासेन (दसवी शती) कृत संस्कृत प्रद्युम्न चारित्र, कनकामर (१०६० ई०) अप० यदुचरिउ, सिंह कवि (११७३-१२३०) अप० प्रद्युम्न चरित्र, अमरचन्द्रसूरि (१२५० ई०) संस्कृत बालभारत, देवप्रभ (१२५० ई०) संस्कृत पाण्डव चारित्र, देवेन्द्रसूरि (१२७० ई०) प्राकृत कृष्ण चरित्र, साधारू (१३५४ ई०) हिन्दी प्रद्युम्न चौपाई, भ० जिनचन्द्र (१३७१ ई०) प्राकृत प्रद्युम्न चरित्र, अज्ञात कर्तक कन्नड़ :कृष्ण चरित्र: (१४०० ई०), ब्र० जिनदास (१४२०-७० ई०) हिन्दी प्रद्युम्नरास, जिनसेन कोलापुरीय (१४३८ ई०) संस्कृत द्रोपदी प्रबन्ध, रल्हण (१४५० ई०) प्राकृत प्रद्युम्न चरित्र सोमकीर्ति (१४६५-८५ ई०) संस्कृत प्रद्युम्न काव्य, शुभचन्द्र (१५५१ ई०) संस्कृत पाण्डवपुराण, ब्र० रायमल्ल (१५५९-७६ ई०) हिन्दी प्रद्युम्नरास, वादिचन्द्र (१५९७ ई०) और श्रीभूषण (१६०० ई०) कृत संस्कृत पाण्डव पुराण, (अलग-अलग), रविसागर (१६०० ई०) संस्कृत प्रद्युम्न चरित्र, रत्नचन्द्र (१६१४ ई०) संस्कृत प्रद्युम्न चरित्र महाकाव्य, देवेन्द्रकीर्ति (१६६५ ई०) प्रद्युम्न प्रबन्ध, ब्र० जयसार (१६६०-८८ ई०) हिन्दी अनिरुद्ध हरणरास, छत्रसेन (१६९७ ई०) हिन्दी रुक्मिणी चरित्र विधान कथा, बुलाकीदास (१६९७ ई०) हिन्दी भारतभाषा, (पाण्डव पुराण), भागचन्द्र (१८४३-८० ई०) अनिरुद्धकुमार चरित्र, आदि।

(छ) प्रकीर्णक स्फुट रचनायें भी अनेक हैं जिनमें अधिक महत्वपूर्ण हैं धनन्जय कृत: द्विसंधान काव्य: संस्कृत (८वीं शती) कन्नड़ में पम्पभारत या विक्रमार्जुन विजय (९०२ ई०) वाणभट्ट कवि कृत सं० नेमिनिर्वाण काव्य (ल० १००० ई०) रत्न कवि, (९६०-९५ ई०) कृत क० साहसभीष्म विजय, श्रुतिकीर्ति (१०८५-११२५ ई०) कृत संस्कृत राघवपाण्डवीय, आशाधर (९२००-५० ई०) कृत संस्कृत राजीमिती विप्रलम्भ काव्य, हस्तिमल्ल (११७५-१२०० ई०) के संस्कृत नाटक विक्रान्त कौरव, सुभद्राहरण, अर्जुनराज, रामचन्द्रसूरि (११७५-१२०० ई०) के संस्कृत नाटक निर्भय भीम व्यायोग एवं यदुविलास, रुक्मिणी यशोविजय काव्य, विजयपाल (१२५० ई०) संस्कृत द्रौपदी स्वयंवर, विक्रमकवि (१४२५-५० ई०) संस्कृत में नेमिदूत काव्य, जिनसेन कोल्लापुरीय (१४३८ ई०) संस्कृत नेमिनाथ दण्डक, रत्नभूषण (१५७० ई०) संस्कृत रुक्मिणी हरण काव्य, नरेन्द्र कीर्ति (१५७५-७५ ई०) संस्कृत नेमिश्वरचन्द्रायण, विनोदीलाल (१६५०-९५ ई०) हिन्दी नेमिनाथ व्याहला, राजुल पच्चीसी, राजुल नेमि बारहमासा।

उपरोक्त शताधिक ग्रंथों के अतिरिक्त कितनी ही छोटी-मोटी रचनायें गुजराती, राजस्थानी, मराठी,

हिन्दी आदि भाषाओं में हैं। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, कन्नड़ तमिल आदि में भी कई एक अन्य रचनाओं के होने की सम्भावना है जो जैनशास्त्र भण्डारों में दबी पड़ी हैं।

कृष्ण विषयक समस्त ज्ञात एवं उपलब्ध जैन साहित्य का तुलनात्मक सम्यक् अध्ययन अभी तक नहीं हुआ है। वैसा होने पर जैन परम्परा सम्मत कृष्ण चरित्र को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। कतिपय घटनाओं, नामों स्थानों आदि से सम्बन्धित अनेक पारस्परिक अन्तर या मतभेद भी हैं किन्तु वे प्राय: गौड़ हैं और उनका भी परीक्षण एवं मूल्याँकन किया जा सकता है।

अत: जैन साहित्य में कृष्ण चरित्र इतनी विविधता एवं बिस्तार से देशकाल एवं भाषाओं की सीमा को उल्लंघन करता हुआ प्राप्त होता है तो जैन कला में कृष्ण की कोई अभिव्यक्ति नहीं होती यह असम्भव था। शक कुषाण कालीन मथुरा कला से तीर्थंकर अरिष्टनेमि की ऐसी कई प्रतिमायें प्राप्त हैं जिनमें तीर्थंकर के एक ओर हलधर बलराम खड़े हैं और दूसरी ओर मुकुट एवं चक्रधर नारायण कृष्ण तत्कालीन मथुरा की प्रसिद्ध हरिनेगनेशी मूर्तियों का सम्बन्ध भी कृष्ण कथा से है, न कि जैसा प्रायः समझा जाता है, महावीर जन्म से। खजुराहों, आबू आदि के जिन मन्दिरों के प्रस्तरांकनों में भी कृष्ण कथा के प्रसंग प्राप्त हैं। अनेक साहित्यिक रचनाओं की जो मध्यकालीन सचित्र पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं उनमें भी कृष्ण कथा के कतिपय प्रसंग चित्रित हैं। ऐसी एक पाण्डुलिपि के कुछ सचित्र पत्र राज्य संग्रहालय, लखनऊ में भी हैं। वस्तुतः इस दिशा में अभी तक कोई गम्भीर शोध खोज नहीं हुयी है। वैसा होने पर अन्य अनेक कलाकृतियां चित्रों आदि के प्राप्त होने और नये सिरे से चीन्हें जाने की सम्भावना है।

आचार्य जिनसेन के हरिवंश पुराण में कृष्णचरित्र

अध्याय एक—

उत्पत्ति वासुदेवस्य गोकुले बाल चेष्टितं ।
ग्रहणं सर्व शास्त्राणां बलदेवोपदेशतः ॥ ९१ ॥

चापरत्न समारोपं कालिंद्यां नागनाथनम् ।
वाजिवारण चाणूर मल्लकंस वधं ततः ॥ ९२ ॥

उग्रसेनस्य राज्यं च सत्यभामा करग्रहं ।
सर्वज्ञाति समेतस्य प्रीतिं च परमां हरेः ॥ ९३ ॥

रामकेशवयोः प्लुष्टबंधुपुत्रकलत्रयोः ।
निर्गमं दुर्गमं शोकं कौशांबवनसेवनं ॥ ११९ ॥

शीरिरक्षणमुक्तस्य प्रमादाद्दैवयोगतः ।
जरत्कुमार मुक्तेन शरेण हननं हरेः ॥ १२० ॥

ततो घातकशोकं च शोकं रामस्यदुस्तरं ।
सिद्धार्थ बोधितस्यास्य निर्विण्णस्य तपस्यनं ॥ १२१ ॥

ब्रह्मलोकोपपादं च कौंतियानां तपोवनं ।
उर्जयंतगिरावंते नेमिनाथस्य निर्वृत्ति ॥ १२२ ॥

उपसर्गजयं पंचपांडवानां महात्मनां ।
दीक्षां जरत्कुमारस्य संतानं तस्य चायतं ॥ १२३ ॥

हरिवंश प्रदीपस्य जितशत्रोश्च केवलं ।
पुरप्रवेशमंते च श्रेणिकस्यपृथुश्रियः ॥ १२४ ॥

वर्धमानजिनेशस्य निर्वाणं गणिनां तथा ।
देवलोक कृतं वक्ष्ये प्रदीपमहिमोदयं ॥ १२५ ॥

हरिवशंपुराणस्य विभागोयं ससंग्रहः ।
श्रूयतां विस्तरः सिद्धयै भव्यैः सम्यैरतः परं ॥ १२६ ॥

प्रतीहार मन्दिरों में श्रीकृष्ण का चित्रण और भागवतपुराण

राकेश दत्त त्रिवेदी

विष्णु के दशावतारों में कृष्णावतार का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यदि कहा जाय कि दशावतारों में से सर्वाधिक महत्व और ख्याति श्रीकृष्ण को प्राप्त हुई तो अतिशयोक्ति न होगी। परम्परागत अवतार मूल्यांकन की प्रणाली में श्रीकृष्ण को पूर्णावतार माना गया है जिनमें सम्पूर्ण सोलह कलायें विद्यमान थीं जबकि अन्य अवतारों में यह पूर्णतया नहीं दिखाई गई। दूसरे शब्दों में, मानवजीवन के विविध कार्यकलापों के जितने पक्ष सम्भव हैं उन सभी का समावेश कृष्ण के जीवन दर्शन में परिलक्षित होता है। जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं हैं जिसमें श्रीकृष्ण का अपूर्व योगदान न रहा हो। अपने समय में श्रीकृष्ण ने जिस शौर्य, चातुर्य और अद्‌भुत दार्शनिक विवेक का परिचय दिया उससे उनके शत्रु-मित्र सभी अत्यधिक प्रभावित हुये।

जिस समय श्रीकृष्ण का आविर्भाव हुआ उस समय चारों और विघटन, अन्याय और पारस्परिक कलह की भावनायें पनप रहीं थीं। वहीं एक ओर कंस जैसे शासक अपने पिता उग्रसेन को बन्दीगृह में डाल कर मनमानी नीति से मथुरा में राज्य कर रहे थे, जरासंध और शिशुपाल जैसे राजा क्रमशः मगध और चेदि भूभागों में अन्यायपूर्ण शासन चला रहे थे, वहीं दूसरी ओर कौरव जैसे राजवंश अन्याय का आश्रय लेकर हस्तिनापुर में गृह-कलह तथा भ्रातृ-वैर को बढ़ावा दे रहे थे। ऐसी जटिल राजनैतिक तथा सामाजिक परिस्थि-तियों में श्रीकृष्ण का आगमन हुआ। कंस की बहिन देवकी के गर्भ से वसुदेव के पुत्र के रूप में कंस के ही कारागार में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, वसुदेव ने उन्हें गोकुल ले जाकर नन्द और यशोदा से उत्पन्न पुत्री से बदल लिया। इस प्रकार एक बड़े नाटकीय ढंग से नन्द और यशोदा के पुत्र के रूप में श्रीकृष्ण ने अपनी शैशव अवस्था बितायी। कृष्ण को मारने के लिये कंस के भेजे हुये तमाम दैत्य गोकुल और वृन्दावन आते रहे किन्तु वे सभी श्रीकृष्ण के हाथों नष्ट होते गये। कृष्ण के उदीयमान पराक्रम से सभी दुर्जन और दैत्य भय-भीत हुये। सशंकित कंस ने बलराम तथा कृष्ण को मथुरा की रंगशाला में नष्ट करने की योजना बनाई। कृष्ण ने उसी अवसर पर कंस को मारकर मथुरा के राजसिंहासन पर उग्रसेन को प्रतिष्ठापित किया। इसके

श्री राकेश दत्त त्रिवेदी, अधीक्षक पुरातत्वविद, भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण, मन्दिर सर्वेक्षण योजना, भोपाल।

पश्चात् मथुरा में ही श्रीकृष्ण की शिक्षा-दीक्षा हुई और वे तत्कालीन गतिविधियों के केन्द्र बने। द्वारकापुरी को अपनी राजधानी बनाकर यादववंश के अधिपति के रूप में श्रीकृष्ण ने राज्य सम्भाला। महाभारत युद्ध में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही और इसी युद्धस्थल में उन्होंने गीता जैसा महान् दार्शनिक तत्व दिया। एक ही कृष्ण क्या क्या थे, इसका निश्चय कर पाना कठिन है। उनके समकालीन व्यक्ति भी उनका वास्तविक सामर्थ्य और स्वरूप नहीं समझ पाये। वे एक सुन्दर बालक, वीर पुरुष, परमयोगी और राजनीतिज्ञ सभी कुछ थे। श्रीकृष्ण की मान्यता की पराकाष्ठा वहाँ देखने को मिलती है जहां उन्हें धर्म और पूर्ण सफलता का पर्याय मान लिया गया है। कहा गया है कि जिस कार्य या स्थान में श्रीकृष्ण हैं वहीं धर्म है और जहां धर्म है वहीं सब प्रकार की सफलता और विजय अवश्यम्भावी है—"यतः कृष्णः ततो धर्मः यतो धर्मः ततो जयः"।

स्वाभाविक है कि ऐसे लोकव्यापी चरित्र को ईश्वर का पूर्णावतार माना जाता और भारतीय धर्म-ग्रंथ, साहित्यकार एवं कलाकार अपनी अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनका चित्रण करते। यों तो कृष्ण-कथा से सम्बन्धित अनेक ग्रंथों की रचना हुई है किन्तु उनमें से महाभारत और भागवतपुराण का विशेष स्थान है। कृष्ण कथा के उन्नयन में भागवतपुराण का अत्यधिक प्रभावशाली योगदान रहा है जिसकी रचना लगभग ८वीं शताब्दी ई० में हुई। भागवतपुराण की रचना के पूर्वकाल में ही कृष्ण कथा का शिल्प कला में प्रतिरूपण होने लगा था। पहली शताब्दी ई० के मथुरा से प्राप्त एक शिल्प उदाहरण से विदित होता है कि उस समय कृष्ण लीला के दृश्यों का अंकन प्रारम्भ हो चुका था। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० के देवगढ़ (जिला ललितपुर) तथा मण्डोर (जिला जोधपुर) से प्राप्त कृष्णलीला के दृश्य इस विषय की लोकप्रियता को समझने में और अधिक सहायक सिद्ध होते हैं। भीतरी अभिलेख (जिला गाजीपुर) तथा कालीदास के ग्रंथों में कृष्ण के उल्लेख, हरिवंशपुराण तथा विष्णुपुराण में श्रीकृष्ण के विशद वर्णन, कृष्ण चरित्र की व्यापक लोकप्रियता के साहित्यिक प्रमाण हैं। कला और साहित्य के ये उदाहरण भागवतपुराण की कलात्मक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि के रूप में देखे जा जा सकते हैं। इस प्रकार भागवतपुराण के लोकरंजक कृष्ण का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी किन्तु उसकी रचना से पहले कृष्ण काव्य तथा कृष्ण कला की एक अनवरत धारा प्रवाहित थी जो पूर्वमध्यकाल में और अधिक स्पष्ट तथा मुखरित हो उठी।

कृष्णलीला की दृष्टि से भागवतपुराण जहां एक अद्वितीय ग्रन्थ है वहाँ काव्य की दृष्टि से एक अति सरस रचना। इसलिये इसको उचित ही "रसमालयम्" कहा गया है—पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः (पद्मपुराण, भागवत माहात्म्य, ६, ८०)। भागवतपुराण की लोकप्रियता से तत्कालीन शिल्पकार और स्थापत्यकार भी प्रभावित हुये जिनके शिल्प उदाहरण अनेक स्थानों पर देखे जा सकते हैं। आठवीं शताब्दी ई० में जब भागवतपुराण की रचना हुई उस समय और उसके तुरन्त बाद उत्तरी भारत का अधिकांश भाग प्रतीहार नरेशों के आधिपत्य में था। इनका संघर्ष समय समय पर दक्षिण पठार के राष्ट्रकूटों तथा बंगाल के पाल राजाओं से चलता रहा। किन्तु इस त्रिकोणीय संघर्ष के बाद अन्ततः उत्तरी भारत पर अपना प्रभुत्व जमाने में प्रतीहार नरेश ही सफल हुये। प्रतीहारों का प्रारम्भिक केन्द्र उज्जैन था। जहाँ के शासकों में नागभट प्रथम और वत्सराज मुख्य हैं। बाद में नागभट द्वितीय (लगभग ८०५–८३३ ई०) के काल में कन्नौज विजय के उपरान्त वहीं उनकी राजधानी बनी जहां से मिहिरभोज (लगभग ८३६–८८५ ई०)

और महेन्द्रपाल प्रथम (लगभग ८८५–९१० ई०) जैसे यशस्वी राजाओं ने राज्य किया। उत्तरी भारत की तत्कालीन राजनीति में सशक्त भूमिका निभाने के लिये यह आवश्यक था कि उज्जैन से राजधानी हटाकर कन्नौज जैसे केन्द्रस्थ स्थान पर लाई जाय जो पहले से ही अपने राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व के लिये विख्यात था और जहां से उत्तर–पश्चिम भारत में आने वाले अरब आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सकता था। मिहिरभोज ने अरब आक्रमणों का न केवल सफलतापूर्वक सामना किया वरन् उत्तर भारत में एक सांस्कृतिक नवचेतना भर दी जिससे उनके बाद कुछ समय तक उत्तरी भारत सशक्त बना रहा। भोज की इस अपूर्व देन के कारण उन्हें 'आदिवराह'[1] कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि जैसे विष्णु ने वराह अवतार धारण करके पृथ्वी का उद्धार किया उसी प्रकार इस महान नरेश ने भी अपने राज्य की रक्षा की। भोज का यह विरुद उसके वैष्णव होने की ओर संकेत करता है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि प्रतीहार कालीन अनेक मन्दिरों में कृष्ण लीला का चित्रण अधिक मात्रा में हो।

ओसियां (जिला जोधपुर, राजस्थान) के प्रारम्भिक मन्दिरों का निर्माण ८०० ई० के आसपास हुआ, यह उनकी स्थापत्य विशेषताओं और स्थानीय अभिलेखीय प्रमाणों से विदित होता है।[2] स्थानीय महावीर मन्दिर के एक लेख से विदित होता है कि उस मन्दिर का निर्माण प्रतीहार नरेश वत्सराज (लगभग ७७०-८०५ ई०) के शासन काल में हुआ होगा और बाद में उसके कुछ भाग का जीर्णोद्धार जिन्दक नाम के एक श्रेष्ठी ने करवाया। ओसियां के प्रारम्भिक काल के सभी मन्दिर लगभग इसी समय में बनवाये गये जिसका प्रमाण उनकी स्थापत्य और शिल्प विशेषताओं से मिलता है। प्रारम्भिक काल के मन्दिरों में से पांच मन्दिरों में कृष्णलीला के दृश्यों का अंकन बड़ी मात्रा में किया गया है जिनमें से तीन हरिहर मन्दिर, एक विष्णु मन्दिर और एक सूर्य मन्दिर कहे जाते हैं। प्रथम चार मन्दिरों में कृष्णलीला का अंकन उनके वरण्डिका भाग में स्थित एक चौड़ी पट्टिका में किया गया है। जिसके ऊपर और नीचे दोनों ओर उभरी हुई कपोतिका पट्टिकायें विद्यमान हैं। इन चारों मन्दिरों में कृष्णलीला के प्रधान दृश्य लगभग एक ही क्रम से दिखाये गये हैं जिनका प्रारम्भ मन्दिर के दाहिने भाग से होता है और परिक्रमा क्रम से चलकर यह चित्रण मन्दिर के बायें भाग तक पहुंचकर समाप्त होता है। सूर्य मन्दिर में कृष्णलीला के दृश्य मुख मण्डप के भीतर सिरदलों (लिन्टल) पर दिखाये गये हैं।

कृष्णलीला के इस क्रमबद्ध प्रतिरूपण में सबसे पहले मथुरा के कंस के कारागार में कृष्ण का जन्म दिखाया गया है। एक शय्या पर देवकी के साथ नवजात कृष्ण अंकित हैं जिन्हें वसुदेव अपने हाथों में उठाकर खुलते हुये बन्दीगृह के द्वार से बाहर जा रहे हैं। उस समय योगमाया के प्रभाव से रक्षक द्वारपाल बिल्कुल अचेत हो गये हैं, जिन्हें निद्रावश ऊंघते हुये दिखाया गया है। द्वारपाल के पीछे श्रीकृष्ण को लिये वसुदेव पुनः निरूपित किये गये हैं। भागवतपुराण में यह विषय इस प्रकार वर्णित है। जिस समय वसुदेव श्रीकृष्ण को लेकर बन्दीगृह से बाहर निकलने लगे उस समय समस्त रक्षक द्वारपाल और पुरवासी अचेत होकर सो गये तथा लोहे की जंजीरों से बन्द कपाट स्वतः खुल गये जैसे सूर्य के निकलते ही अन्धकार दूर हो जाता है—

तया हृतप्रत्ययसर्ववृतिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलश्रृङ् खलैः॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः। (भागवत, १०,३,४८-९)

इसके बाद के शिल्पांकन में एक आसन पर बैठे हुये सम्भवतः नन्द को दिखाया गया है जिनके बांयीं ओर खड़ी यशोदा दही मथ रहीं हैं और उन्हीं के पैरों के समीप शिशु कृष्ण मथानी के निचले भाग को पकड़ते हुये प्रदर्शित किये गये हैं। वास्तव में दधिमंथन का दृश्य गोकुल तथा सारी ब्रजभूमि की अपनी विशेषता है जो लाक्षणिक रूप से ब्रजमण्डल की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। भागवत का उल्लेख है कि यशोदा एक बार जब दही मथ रहीं थीं और साथ ही साथ श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का स्मरण करती हुई गाती जाती थीं (दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत। १०,९,२) उस समय श्रीकृष्ण स्तनपान के लिये यशोदा के समीप आये और उनकी मथानी पकड़कर उन्हें दही मथने से रोक दिया—

तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः।
गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन्॥ (भागवत १०, ९, ४)

उस समय के यशोदा के रूप का चित्रण बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। उनकी कमर में रेशमी वस्त्र मेखला-सूत्र से बंधा था, पुत्रस्नेह के कारण कांपते हुये स्तनों से दूध टपक रहा था, मथानी की रस्सी खींचने से उनकी भुजायें, हाथों के कंपन और कान के कुण्डल हिल रहे थे, मुंह पर पसीना था और बालों से मालती के फूल रह रह कर गिर रहे थे। इस प्रकार यशोदा दही मथने में व्यस्त थीं—

क्षौमं वासः पृथुकटिलटे बिभ्रती सूचनद्धं
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौकुण्डले च
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ॥ (भागवत १०,९,३)

यशोदा का यह प्रतिरूपण उसी अवसर का मालूम पड़ता है। भागवतपुराण में दधिमन्थन का उल्लेख बहुधा ब्रजभूमि के वर्णन में किया गया है। एक बार श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा और मंत्री ऊधव को ब्रज में संदेश वाहक के रूप में भेजा। वहां प्रातः काल उठते ही ऊधव ने देखा कि ब्रज की गोपियां अपने घरों को साफ करके दही मथने में व्यस्त हो गई हैं। दधि मन्थन के समय वे श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का यशोगान करती जाती थीं और गाने का वह स्वर दही मथने के स्वर से मिलकर एक सुन्दर ध्वनि पैदा करता था जिससे सारी दिशायें पवित्र हो रहीं थीं—

गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान् वास्तून् समभ्यचर्य दधीन्यमन्थन्॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं ब्रजाङ्गनानांदिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥

(भागवत १०,४६,४४ तथा ४६)

इसके बाद के फलक में तीन घटनाओं का चित्रण किया गया है। सबसे पहले (दाहिने से बाईं ओर के क्रम में) कंस को दिखाया गया है जो वसुदेव द्वारा गोकुल से लाई गई कन्या (योगमाया) को देवकी की आठवीं सन्तान समझकर शिला पर पटक रहा है। उसने अपने दाहिने हाथ से योगमाया के पैरों को पकड़कर ऊपर उठा लिया है और बड़े वेग से उसकी हत्या के लिये उद्यत है। भागवत का उल्लेख है कि कंस ने

अपनी बहिन की कन्या को उसके पैर पकड़कर एक शिला पर निर्दयता से पटक दिया क्योंकि स्वार्थभावना के कारण उसमें सहृदयता शेष नहीं रह गई थी—

तां गृहीत्वा चरणयोर्जातमात्रां स्वसुः सुताम् ।
अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितः सौहृदः ।। (भागवत, १०,४,८)

फलक के मध्य में पूतनावध का चित्रण हुआ है जिसमें पूतना एक आसन पर बैठी हुई प्रदर्शित है तथा आसन के नीचे खड़े बालक कृष्ण उसके स्तनों को प्राण घातक पीड़ा पहुंचा रहे हैं। प्राण निकलते समय पूतना ने कृष्ण को हाथों से छोड़ दिया है और हाथ पैर पटकते हुये अपने राक्षसी रूप में प्रकट हो गई है। उसका राक्षसी रूप, भयानक मुखमुद्रा तथा हाथों पैरों की अस्थियों से स्पष्ट किया गया है। मर्मान्तक पीड़ा के कारण मुखमुद्रा विकृत हो गई, शरीर मरणासन्न हो गया और अपने को छुड़ाने के लिये वह चिल्लाने लगी। भागवत का वर्णन भी ऐसा ही है—

सामुंच मुंचालमिति प्रभाषिणी निष्पीड्यमाना खिलजीवमर्मणि ।
विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रूरोदह ।।
(भागवत, १०,६,११)

श्रीकृष्ण की बाल सुलभ शरारतों के कारण एक बार यशोदा ने उन्हें ओखली (उलूखल) से बाँध दिया (गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा। १०, ९, १४)। बांई ओर दिखाये गये अन्तिम दृश्य में ओखली से बंधे हुये श्रीकृष्ण प्रदर्शित हैं। ओखली दोनों यमलार्जुन वृक्षों के बीच में फंस गई है और कृष्ण उसको दूसरी ओर से खींच रहे हैं। यह अंकन कृष्ण का उलूखलबन्धन और यमलार्जुन उद्धार दोनों प्रदर्शित करता है। दोनों यमलार्जुन वृक्ष पूर्वजन्म में कुवेर के पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव थे जो नारद के शाप से वृक्ष हो गये थे और श्रीकृष्ण द्वारा गिराये जाने के बाद इनका पुनरूद्धार हुआ। कृष्ण दोनों वृक्षों के बीच से निकल गये किन्तु उनसे बंधी हुई ओखली पेड़ों के बीच में फंस गई—

इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृणस्तु यमयोर्ययौ ।
आत्मनिर्वेषमात्रेण तिर्यग्गमुलूखलम् ।। (भागवत, १०, १०, २६)

आगे के फलक में शकटभंग का दृश्य अंकित है। बालक कृष्ण एक आसन के ऊपर लेटे हैं और दाहिने पैर से एक बैलगाड़ी उलट रहे हैं जिससे ऊपर दो भाण्ड रखे हुये हैं। गाड़ी पीछे की ओर उलट रही है जिसके ऊपर रखे हुये बर्तन गिर रहे हैं। एक बार कृष्ण को भूख लगने पर माता के स्तनपान की इच्छा हुई तब वह रोते हुये अपने पैरों को बालस्वाभाविक गति से ऊपर उछालने लगे—

रुदन स्तनार्थी चरणावुदेक्षिपत् ।। (भागवत १०,७,६)

उनके अलौकिक प्रभाव के कारण उनका नन्हा सा पैर लगते ही एक बैलगाड़ी, जिसके नीचे वह सो रहे थे उलट गई और उस पर लदे गोरस से भरे वर्तन भाण्ड सब गिरकर टूट गये साथ ही गाड़ी के पहिये, उसका जुआ और धुरे टूट कर अस्त व्यस्त हो गये।

अधः शयानस्य शिशोरनोल्पक—प्रवालपृद्वङ् घ्रिहतं व्यवर्तत ।
विध्वस्तानानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ।। (भागवत १०, ७, ७)

एक अन्य दृश्य में बलराम और कृष्ण को ग्वालबालों के साथ बालक्रीड़ा में रत दिखाया गया है। एक बालक दूसरे बालक की पीठ पर बैठा है तथा उसके पीछे एक अन्य बालक दूसरे की पीठ पर बैठने के लिये सचेष्ट हैं। उनके पीछे दो बालक एक दूसरे के सम्मुख किसी अन्य खेल में व्यस्त हैं। कुछ बड़े होने पर कृष्ण बलराम यमुना-तट पर गायें चराने जाने लगे जहां तरह तरह के खेल अन्य बालकों के साथ वे दोनों खेलते थे। भागवत में वर्णित है कि एक बार सब ग्वालबालों ने ऐसा निश्चय किया कि हारने वाले बालक जीतने वाले बालकों को अपनी पीठ पर बिठाकर कुछ दूर तक ले जाय। हारे हुये श्रीकृष्ण ने श्रीदामा नाम के बालक को अपनी पीठ पर बिठाया और इसी प्रकार अन्य बालकों ने किया—

यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ।।
वहन्तो बाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।
उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।। (भागवत, १०,१८,२१,२२ तथा २४)

प्रस्तुत चित्रण में कृष्ण-बलराम के इसी खेल का प्रतिरूपण हुआ है। इसी खेल के समय प्रलम्ब नामक दैत्य बलराम को पीठ पर चढ़ाकर मारने के लिये भागा किन्तु बलराम ने अपनी शक्ति से प्रलम्ब का वध कर दिया।

कृष्ण की बाललीला के आगे के क्रम अरिष्टासुर अथवा वृषासुर (बैल के रूप में) और केशी (घोड़े के रूप में) का विनाश दिखाया गया है। यहां कृष्ण बड़े उग्र रूप में दोनों असुरों का विनाश करते हुये प्रदर्शित किये गये हैं। कृष्ण के निर्माण में यहां विशेष शक्ति और गति का प्रदर्शन किया गया जो प्रतीहार कालीन मूर्तिकला का सक्षम उदाहरण है। कृष्ण किस प्रकार अरिष्टासुर को उठाकर पटकते हैं और फिर उसके सिर को मसल उसका बध करते हैं यह विशेष प्रभावशाली ढंग से दर्शाया गया है। भागवत में अरिष्टासुर के मारे जाने का विवरण इसी प्रकार दिया गया है। कृष्ण ने अरिष्टासुर के सींग पकड़कर पृथ्वी पर गिरा दिया और फिर पैर से मसल कर उसका अन्त किया—

तमापतन्तं स निगृह्यश्रृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले । (भागवत १०,३६,१३)

शिल्प में बांई ओर अपने दोनों अगले पैरों को उछालकर पिछले पैरों पर टिका हुआ घोड़े के रूप में केशी कृष्ण पर आक्रमण कर रहा है। केशी अपना मुंह फैलाकर कृष्ण की ओर दौड़ा तब उन्होंने अपना हाथ उसके मुंह में डाल दिया है जिससे उसका प्राणान्त हो गया। भागवत में भी ऐसा ही वर्णन है कि कृष्ण ने बायां हाथ केशी के मुंह में डालकर उसका वध किया क्योंकि केशी अपना मुंह फैलकर कृष्ण पर झपटा था—

स लब्धसंज्ञः पुनरूत्थितो रूषा व्यादाय केशी तरसाऽऽपतद्धरिम् ।
सोऽप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् प्रवेशयामास यथोरगं बिले ।।
(भागवत १०,३७,६)

इसके बाद गोवर्धनधारण का दृश्य अंकित हैं जिसके नीचे कृष्ण के साथ व्रज के पशु और निवासी खड़े हैं।

हरिहर मन्दिर नं० १ में प्रदर्शित धेनुकवध (गधे के रूप में) का दृश्य अपनी सजीवता, प्रभाव और सशक्त शिल्पाँकन के लिये विशेष प्रशंसनीय है। धेनुक का वध बलराम के हाथों हुआ और इस शिल्प में उन्हें धेनुक को पिछले पैरों से पकड़कर तालवृक्षों पर पटकते हुये दर्शाया गया है। भारी दैत्य को उठाकर फेंकने में बलराम को जिस शारीरिक बल और गति का प्रयोग करना पड़ा उसका संक्षेप प्रदर्शन शिल्पकार ने बड़ी कुशलता से किया है। बलराम के बड़े प्रयास से आगे बढ़ते हुये पैर, उभरा हुआ वक्षस्थल, पीठ की ओर झुका हुआ सिर और धेनुक को दाहिने हाथ से उठाने के लिये किये गये प्रयास में बायें हाथ की सहायता के अंकन इस शिल्प में एक अनोखी शक्ति तथा ओज भर देते हैं। यथार्थता और गति से परिपूर्ण ऐसे चित्रण भारतीय कला में बहुत कम उपलब्ध हैं। तालवृक्ष पर धेनुक का मृतप्राय रूप तथा पृथ्वी पर उलटा पड़े हुये धेनुक का प्रदर्शन बड़े प्रभावशाली ढंग से किया गया है। उसके शरीर से टूटे हुये तालवृक्ष भी दृष्टव्य हैं। फलक में दाहिनी ओर दण्डधारी दो बालकों को दिखाया गया है जो उन ग्वालबालों में से हैं जिनके आग्रह पर बलराम और कृष्ण तालवन में फल खाने के लिये गये थे। धेनुक उसी तालवन का रक्षक था जिसने बलराम पर अक्रमण किया था। यह चित्रण भी भागवत के वर्णन से बड़ा साम्य रखता है जिसमें कहा गया है कि बलराम ने एक हाथ से धेनुक के पैर पकड़ लिया और उसे उठाकर एक तालवृक्ष पर पटक दिया जिससे उसके प्राण निकल गये। धेनुक के गिरने से ताल का विशाल वृक्ष टूट गया और साथ ही समीप के अन्य वृक्षों को भी उसने गिरा दिया जैसा कि प्रस्तुत शिल्प में प्रदर्शित है।

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्त जीवितम्॥
तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम्॥ (भागवत १०,१५,३२-३३)

श्रीकृष्ण का कालियामर्दन रूप भी बड़ी सफलता से प्रदर्शित हुआ है। दाहिनी ओर के चित्रण में श्रीकृष्ण को कदम्ब वृक्ष पर चढ़ते हुये और फिर यमुना में कूदकर कालियनाग के शरीर को पैरों से कुचलते हुये दिखाया गया है। कालिय ने अपने शरीर के निचले भाग से उनको लपेट रखा है लेकिन इस बन्धन से श्रीकृष्ण की गति बिलकुल अप्रभावित है और वे उस भीषण सर्प पर नृत्य कर रहे हैं। जब कालियानाग परास्त हो गया तो उसकी पत्नियों ने नाग के प्राण बचाने के लिये श्रीकृष्ण की बड़ी अनुनय विनय की, साथ ही कालियानाग अपने कृत्यों के लिये क्षमा याचना करने लगा। इस दृश्य का चित्रण बांई ओर किया गया है। भागवतपुराण में यह आख्यान विस्तार से वर्णित है जहां नाग के फनों पर नाचते हुये श्रीकृष्ण को नृत्यगीत आदि समस्त कलाओं का आदि गुरू कहा गया है—

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्र पादाम्बुजो खिलकलादिगुरूर्ननर्त॥ (भागवत १०,१६,२६)

मथुरा में कंस की रंगशाला के मुख्य द्वार पर श्रीकृष्ण ने कुवलयापीड़ हाथी का वध किया और

नृत्यगान के बीच रंगशाला में प्रवेश करके बलराम और कृष्ण ने कंस के बलवान पहलवानों को परास्त किया। चित्र में (दहिनी ओर से बांई ओर) श्रीकृष्ण क्रोधित हाथी से भिड़े हुये हैं, उन्होंने बांयें हाथ से हाथी का दांत पकड़ रखा है और दाहिने हाथ से उस पर प्रहार कर रहे हैं। हाथी के पीछे सम्भवतः बलराम दिखाये गये हैं जबकि पृष्ठभूमि में महावत का ऊपरी भाग प्रदर्शित है जो हाथी को आक्रमण के लिये प्रेरित कर रहा है। इसके बाद ढोल झांझ से सुसज्जित वाद्यवृन्द का चित्रण है। अन्त में बलराम और कृष्ण का मुष्टिक और चाणूर से मल्लयुद्ध दिखाया गया है। बांई ओर कोने में कृष्ण–बलराम के पराक्रम से चिन्तित कंस एक आसन पर बैठा है। सेवक के साथ कंस का प्रतिरूप प्रभावशाली ढंग से किया गया है जो अपने बांयें हाथ से सिर को थामे हुये विषादपूर्ण ढंग से बैठा है। बलराम–कृष्ण को नष्ट करने के उसके सारे प्रयत्न विफल हो चुके हैं। इसी स्थिति में श्रीकृष्ण ने कंस का भी अंत कर दिया।

कृष्णलीला का ऊपर वर्णित क्रम से अंकन ओसियां (जिला जोधपुर) के चार मन्दिरों–तीन हरिहर मन्दिरों तथा एक विष्णु मन्दिर–में शिर तथा जंघा भागों के मध्य में स्थित वरण्डिका की चौड़ी पट्टिका में किया गया है। ओसियां के ही एक अन्य सूर्य मन्दिर के मण्डप में सिरदलों (लिन्टल) पर भी कृष्णलीला के दृश्य उत्कीर्ण किये गये हैं। यह सूर्य मन्दिर स्थानीय सचिया माता मन्दिर के बांये पार्श्व में स्थित है तथा ऊपर वर्णित मन्दिरों का समकालीन है। इसमें अंकित दृश्य पूर्ववर्णित कृष्णलीला के दृश्यों के ही समान है यद्यपि इनका आकार उनसे छोटा है। इनमें से एक शिल्पांकन का विषय विशेषरूप से विचारणीय है जो मण्डप वितान के मध्य एक वृक्ष में उत्कीर्ण किया गया है। इसमें एक वेणुवादक युगल को उड़ते हुये दिखाया गया है जिसके चारों और हाथ जोड़े हुये नागवृन्द प्रदर्शित किये गये हैं। डा० भण्डारकर ने इस वेणुवादक युगल के राधाकृष्ण का प्रतिरूपण होने की सम्भावना व्यक्त की है।[5] यदि ऐसा है तो यह शिल्पांकन अपने आप में अपूर्व महत्व का हो जाता है क्योंकि भागवतपुराण या अन्य समकालीन स्त्रोतों में राधा का नाम अज्ञात है। इस शिल्प में वेणुवादक पुरुष का आकार बड़ा है और उसके मुड़े हुये पैर पीछे की ओर इस प्रकार निर्मित किये गये हैं जैसे वह आकाश में वेग के साथ उड़ रहा है। वेणुवादक के बांई ओर छोटे आकार में एक स्त्री नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित की गई है। अधिक सम्भव यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत शिलपांकन कृष्ण की रासलीला के प्रतिरूपण का प्रारम्भिक रूप है जिसमें नृत्यमुद्रा में एक गोपी के साथ कृष्ण निरूपित हुये हैं। सम्भव है भागवत में वर्णित यह वह गोपी हो जिसका आदर रासलीला से पूर्व श्रीकृष्ण ने अन्य गोपियों को छोड़कर किया था और जिसे अपनी श्रेष्ठता का गर्व हो गया था—

या गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ।
सा च मेने तदाऽऽत्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् । (भावगत १०,३०,३७)

ग्वालियर किले (मध्य प्रदेश) पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर के मुख मण्डप के सिरदलों पर भी कृष्ण लीला का चित्रण किया गया है। इस मन्दिर का निर्माण प्रतीहार नरेश परमेश्वर भोजदेव, जिसे श्रीमदादिव-राह भी कहा गया है, के शासन काल में हुआ जैसाकि इसमें उत्कीर्ण दो शिलालेखों (तिथि ८७५-७६ ई०) से विदित होता है।[4] कृष्णलीला का अंकन मन्दिर द्वार के बांई ओर के पार्श्व सिरदल (लिन्टल) से आरम्भ होकर द्वार के दाहिनी ओर समाप्त होता है। इसमें अंकित दृश्य हैं–कृष्ण का बन्दीगृह से निकलना, पूतना-

हरिहर मंदिर I, ओसियां, जि० जोधपुर (राजस्थान)
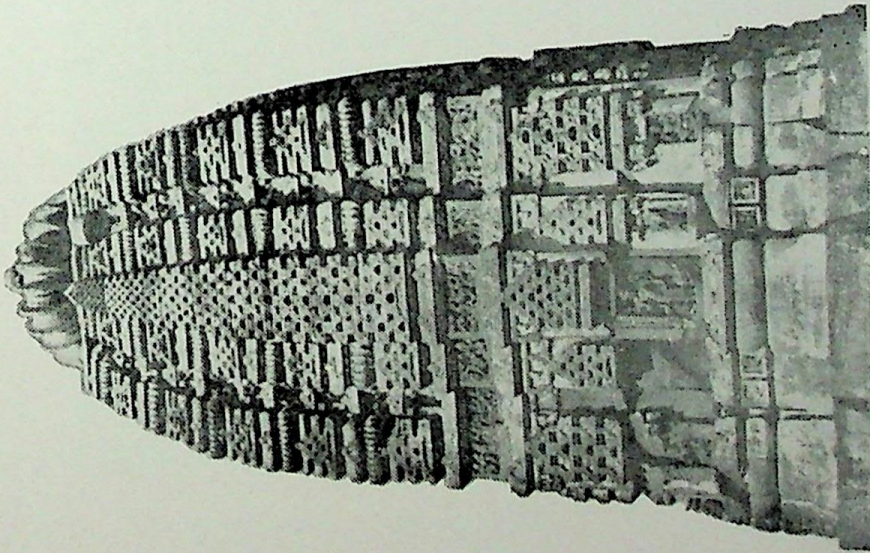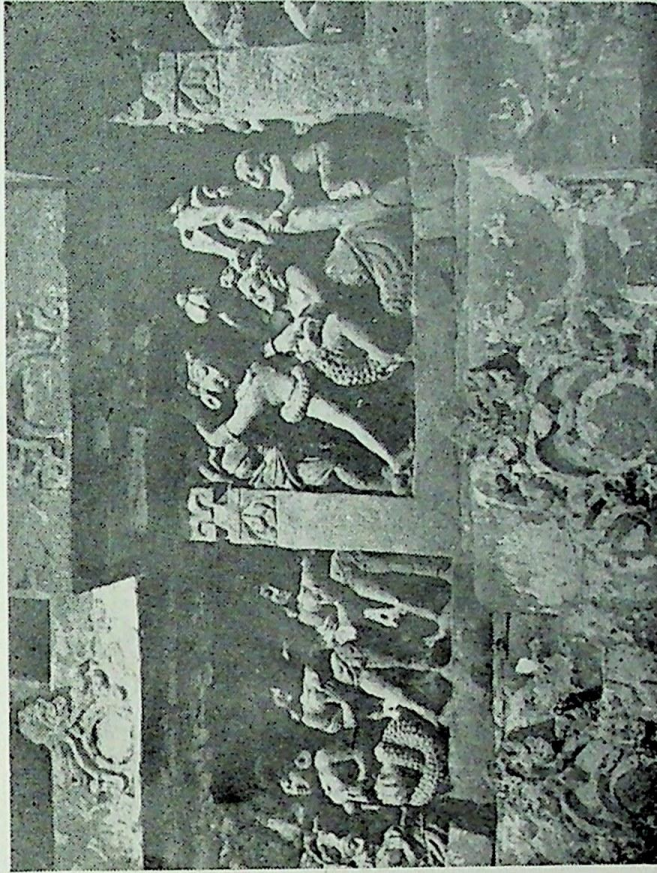
कालियमर्दन, हरिहर मंदिर I, ओसियां, जि० जोधपुर (राजस्थान)
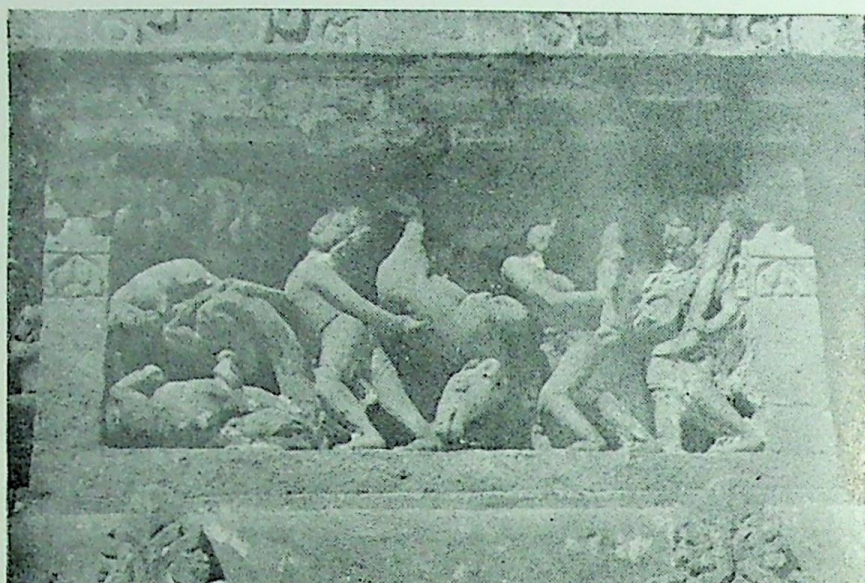
धेनुकावध, हरिहर मंदिर I, ओसियां, जि० जोधपुर (राजस्थान)

शकटभंग, हरिहर मंदिर, ओसियां, जि० जोधपुर (राजस्थान)

वध, शकटभंग, यमलार्जुन-उद्धार, केशीवध, अरिष्टासुर बध, दधिमन्थन, गोवर्धनधारण नृत्यबाद्य वृन्द, कुवलया-पीड़ वध, और मल्लयुद्ध आदि । जैसा कि दो अभिलेखों और मन्दिरों के स्थापत्य की विशेषताओं से विदित होता है यह मन्दिर ओसिया के कृष्णलीला अंकित मन्दिरों से लगभग ७५ वर्ष बाद का है ।

उपर्युक्त कृष्णलीला के दृश्यों और भागवतपुराण के तत्सबंधी वर्णन के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि भागवत के वर्णन के आधार पर ही प्रतीहार कालीन मन्दिरों में कृष्णलीला का शिल्पांकन हुआ होगा क्योंकि भागवत के वर्णन और शिल्पांकन में न केवल विषयगत समता है किन्तु दोनों के वर्णन प्रणाली में बड़ा साम्य है । इस निष्कर्ष से जहां एक ओर प्रतीहारकालीन कृष्णलीला के अंकन का आधार सामने आता है वहां दूसरी ओर भागवतपुराण के रचना काल के विषय में भी संकेत मिलता है ।

यहां एक विषय और विचारणीय है । वर्णित कृष्णलीला शिल्पों को देखने से स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण के जीवन का केवल बाल्यकाल ही शिल्पकला में प्रदर्शित हुआ है, अर्थात् उनके जन्म से लेकर कंस वध तक का वृत्तान्त । द्वारकावासी और महाभारत युद्ध के निर्णायक कृष्ण हमको यहां देखने को नहीं मिलते जिनका वर्णन महाभारत में बहुत विस्तार से हुआ है । महाभारत युद्ध के विषय में कोई विशद वर्णन भागवत में नहीं मिलता जिसमें कृष्ण का निर्णायक योगदान रहा । इसका कारण सम्भवतः यह था कि कृष्ण की बाल-लीला ही तत्कालीन जनमानस को अधिक प्रभावित कर सकी फलस्वरूप समकालीन साहित्यकार तथा शिल्प-कार उसी का गायन और चित्रण करने के लिये प्रेरित हुये। इस सम्बन्ध में एक तथ्य और स्मरणीय है कि प्रतीहारकालीन कृष्णलीला के इतने अधिक दृश्यों में चीरहरण और रासलीला के दृश्य कहीं नहीं दिखाये गये जो कि कृष्ण के बाल्यकाल से ही सम्बन्धित हैं । चीरहरण, रासलीला और राधाकृष्ण की लीलाओं का प्रति-रूपण उत्तर मध्यकाल तथा उसके बाद की कला में बड़ी मात्रा में किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन दृश्यों की लोकप्रियता बाद में बढ़ी जिसके परिणामस्वरूप परवर्ती कला में इनका अंकन अधिक देखने को मिलता है ।

REFERENCES

(1) *Epigraphia Indica*, Vol. I, p. 156.

(3) Dhakey, M. A., The Genesis and Development of Maru-Gurjara Temple Architecture, *Studies in Indian Temple Architecture.* (Ed. Pramod Chandra), AIIS, Varanasi, 1975, p. 145.

(4) Bhandarkar, D. R., The Temples of Osia, Archaeological Survey of India—Annual Report, 1908-9, p. 114.

(4) The Two Inscriptions of the Vallabhattaswamin Temple at Gwalior, *Epigraphia Indica*, Vol. I, pp. 154-162,

भागवत में कृष्णावतार

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं

चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम् ।

श्रीवत्स लक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं

पीताम्बरं सान्द्र पयोद सौभगम् ॥

९.३.९

महार्हवैदूर्य किरीट कुण्डल

त्विषा परिष्वक्त सहस्र कुन्तलम् ।

उद्दाम काञ्चयंगद कंकणदिभि—

विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥

९.३.१०

स विस्मयोत्फुल्ल विलोचनो हरिं

सुतं विलोक्यानक दुन्दुभिस्तदा ।

कृष्णावतारोत्सव सम्भ्रमोऽस्पृशन्

मुदा द्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतो गवाम् ॥

९.३.११

श्रीकृष्ण का वीर रूप

कृष्णदत्त बाजपेयी

प्राचीन साहित्य, कला और लोकवार्ता से श्रीकृष्ण के विविध रूपों का परिचय प्राप्त होता है। उनके इन रूपों तथा उनके कार्यक्षेत्र के विस्तृत आयाम का अनुशीलन करने वाले अनेक विद्वानों ने इसी कारण यह मान्यता स्थापित की थी कि श्रीकृष्ण एक न होकर तीन थे—एक ब्रज के, दूसरे द्वारिका के और तीसरे गीता के उपदेशक कृष्ण। परन्तु इस बात पर सन्देह करने वाले अब बहुत कम लोग हैं कि ये तीनों एक ही थे।

प्रारम्भिक वैदिक साहित्य के मुख्य देवता इन्द्र, अग्नि, वरूण आदि थे। कालांतर में विष्णु और शिव को प्रमुख स्थान मिला। सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा को उनके साथ जोड़कर त्रिदेव की कल्पना हुई। लोक की रक्षा का भार विष्णु पर था, अत: उनका स्थान विशेष महत्त्व का हुआ। ऋत और तप के देवता नारायण के साथ उनका तादात्म्य स्थापित किया गया। वासुदेव कृष्ण को विष्णु का प्रतिनिधि रूप माना गया।

ई० पूर्व पांचवी शती के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी (४, ३, ९८) में वासुदेव पूजा का संकेत मिलता है। पाणिनि के टीकाकार पतंजलि ईसवी पूर्व द्वितीय शती के मध्य में हुए। उन्होंने 'वासुदेवक' लोगों का उल्लेख किया है, जो वासुदेव कृष्ण के पूजक थे।[1] पतंजलि ने केशव (वासुदेव कृष्ण), राम (बलराम) तथा कुबेर के मन्दिरों की भी चर्चा अपने ग्रंथ में की है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जो पतंजलि के महाभाष्य में मिलती है वह यह है कि उनके समय में बलि-बंधन, कंस-वध (श्रीकृष्ण द्वारा) आदि नाटक होते थे। तत्सम्बन्धी कथाएँ पतंजलि के पहले से प्रचलित थीं।

दुष्टों का दलन करने में समर्थ शूरवीर वासुदेव कृष्ण का परिचय अन्य साहित्यिक ग्रंथों तथा कतिपय कलाकृतियों में भी उपलब्ध है। श्रीकृष्ण यदुवंशी क्षत्रिय थे। उनके एक पूर्वज शूरसेन थे, जिनके नाम पर ब्रज या मथुरा क्षेत्र का नाम 'शूरसेन' पड़ा। यहाँ श्रीकृष्ण की 'शौरि' संज्ञा विशेष रूप से

प्राध्यापक, कृष्णदत्त बाजपेयी, एच/१५, पद्माकरनगर, सागर—एम०पी०।

उल्लेखनीय है। क्षत्रिय के शौर्य-गुण का श्रीकृष्ण में प्राचुर्य था। महाभारत तथा हरिवंश में तत्संबंधी कथनों से इसकी पुष्टि होती है।

श्रीकृष्ण का लालन-पालन ब्रज के गोप-परिसर में हुआ। ग्वालबालों के बीच उन्होंने बाल्य और किशोर अवस्थाएँ बितायीं। परन्तु वहां उन्होंने अपने क्षत्रियगुणों का निरन्तर विकास किया तथा उनके द्वारा ब्रज के गोपजन को प्रभावित किया। उन्होंने ब्रज में गोपों का एक लड़ाकू दल भी तैयार किया। महाभारत में उन्हें 'नारायण-गोप' या 'गोप-नारायण' कहा गया और उनके लिये कहा गया कि वे गोकुल में ही संवर्द्धित हुए—"गोकुले नित्यसंवृद्धाः" (महाभारत, ८, ४, ३९)।

इन नारायण-गोपों ने श्रीकृष्ण के आदेश पर महाभारत-युद्ध में भाग लिया।

हरिवंश में श्रीकृष्ण के लिए एक सुन्दर अभिधान 'गोपवेश विष्णु' मिलता है :

पूतिमान्स रहस्यात्मा जगतोऽग्र्यस्य भाजनम्।
गोपवेषधरो विष्णुरुदग्राग्र्य तनुरूहः॥ (हरि, II, २५, २१)

अन्यत्र श्रीकृष्ण के साथ बलराम को भी 'गोपवेशधारी' कहा गया है। दोनों ही ब्रज में संवर्द्धित हुए थे :

'तावुभौ ब्रज संवृद्धौ गोपवेशविभुषितौ।' (हरि०, II, २७, ४०)

हरिवंश (II, २५, २३) आदि में द्विभुज कृष्ण का वर्णन है। उनके आयुधों में चक्र और गदा मुख्य हैं :

रूचिराग्रकरश्चास्य चक्रांकित इवेक्षते।
द्वितीय उद्यतश्चापि गदासंयोगमिच्छति॥ (हरि० II, २५, २६)

वासुदेव-विष्णु के जो प्रारम्भिक रूप कला में प्राप्त हुए हैं उनमें उनके उक्त दोनों आयुधों को विशेष रूप से प्रदर्शित किया गया है। भारत में उनकी प्राचीनतम पाषाण मूर्ति मल्हार (जिला बिलासपुर, मध्य प्रदेश) से प्राप्त हुई है। इस काय परिमाण मूर्ति में अशोक कालीन ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है, जिससे पता चला है कि पर्णदत्त नामक व्यक्ति की भार्या भारद्वाजा के द्वारा विष्णु की यह चतुर्भुजी प्रतिमा (लगभग ई० पू० २०० में) प्रतिष्ठापित की गयी। इस प्रतिमा का गोपवेश उल्लेखनीय है। चारों ओर से कोरकर बनायी गयी यह मूर्ति ताड़पत्र का अधोवस्त्र धारण किये है। सर पर मुकुट है। उनके दायें हाथ में भारी गदा तथा बायें में चक्र है। ये वासुदेव के वीर रूप के परिचायक हैं। मूर्ति में कटि से लटकती हुई असि भी उल्लेखनीय है। साधारण दोनों हाथों में सामने वे शंख पकड़े थे। दुर्भाग्य से शंख को बाद के विकृतिकारों ने विक्षत कर दिया है। वासुदेव-विष्णु की अनेक परवर्ती प्रतिमाओं में शंख इसी रूप में धारण किये हुये मिलता है। वासुदेव-विष्णु की कतिपय कुषाणकालीन अष्टभुजी मूर्तियों में असि दर्शनीय है। उनकी द्विभुज तथा चतुर्भुज प्रतिमाओं के अतिरिक्त अष्टभुजी मूर्तियों के भी ध्यान प्राचीन साहित्य में मिलते हैं।

कुछ वर्ष पहले यूनानी शासक अगाथोक्लीज़ की एक दुर्लभ मुद्रा मिली थी।[२] इस मुद्रा के अग्रभाग पर श्रीकृष्ण का गोपवेश में अंकन है। वे धोती और दुपट्टे के रूप में पर्णवस्त्र धारण किये हुए हैं। मल्हार-

मूर्ति के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। बायें हाथ में वे भारी चक्र धारण किये हैं। उनके सिर पर भी पत्तों का अलंकृत छत्र है। अग्र भाग पर यूनानी शासक का नाम ब्राह्मी लिपि में लिखा है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर बलराम का अंकन है। उनके दायें हाथ में मूसल तथा बायें में हल है। वे भी पर्णवेशधारी हैं। इस शासक का समय ईसवीं पूर्व दूसरी शती का प्रारम्भ है।

शौरि कृष्ण के साथ उनके प्रमुख आयुध चक्र को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। ब्रह्म के रूप में श्रीकृष्ण के जो विवरण प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं उनमें चक्र पर विशेष बल दिया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत का यह श्लोक द्रष्टव्य है :

कालचक्रं जगच्चक्रं युगचक्रं च केशव।
आत्मयोगेन भगवान् परिवर्तयतेऽनिशम्।। (महाभारत ५, ६६, १२)।

हल-मूसलधारी बलराम की शुंगकालीन एक पाषाण मूर्ति मथुरा में प्राप्त हुई थी, जो अब लखनऊ राज्य संग्रहालय में है।

उक्त मूर्तियों तथा घोसुंडी, नगरी, मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त अभिलेखीय प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि ई० पू० २०० या उसके पूर्व पांच वृष्णि महावीरों का महत्व रूढ़ हो चुका था। इन पांचों में से बलराम तथा कृष्ण को विशेष स्थान प्राप्त हुआ तथा उनके मन्दिरों का निर्माण भी होने लगा।

ईसवी प्रथम-द्वितीय शती से लेकर मध्यकाल के अन्त तक की जो कलाकृतियाँ मिली हैं, उनमें प्रायः श्रीकृष्ण के बाल-भाव का ही आलेखन है। प्राचीन शिलापट्टों पर उत्कीर्ण अधिकांश लीलायें कृष्ण-जन्म, पूतना-वध, शंकट-वध, यमलार्जुन-मोक्ष, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण एवं अरिष्ट, केशी तथा कंस आदि के वध की द्योतक हैं। इनके अतिरिक्त गोकुल-वृन्दावन की कतिपय अन्य लीलाओं का चित्रण भी प्राचीत मूर्तियों में मिलता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पहले, भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण, जरासंध की राजधानी गिरिव्रज (आधुनिक राजगृह) गये थे। वहीं भीम और जरासंघ के मध्य मल्लयुद्ध हुआ। इसका अत्यन्त रोचक चित्रण इलाहाबाद जिले में गढ़वा नामक स्थान से प्राप्त एक शिलापट्ट पर मिला है। यह पट्ट ईसवी पांचवी शती का है और अब लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित है। कृष्ण-लीला सम्बन्धी यह एक दुर्लभ कलाकृति है, क्योंकि कंस-वध के बाद श्रीकृष्ण के जीवन-सम्बन्धी बहुत कम दृश्य प्राचीन मूर्तिकला में मिले हैं।

श्रीकृष्ण का जन्म-स्थान मथुरा था। मथुरा तथा व्रज के कई अन्य स्थलों में उन्होंने लोकाह्लादिनी लीलायें कीं। व्रज में श्रीकृष्ण की अनेक पुरानी मूर्तियां मिली हैं। उनकी तथा बलराम की कुछ महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ तुमैन (जिला गुना), एरण (जिला सागर), देवगढ़ (जिला ललितपुर), खजुराहो (जिला छतरपुर), मंडोर (जिला जोधपुर), सूरतगढ़ (जिला बीकानेर) आदि स्थानों में भी मिली हैं। बंगाल में पहाड़पुर, उड़ीसा में भुवनेश्वर, कर्णाटक में बादामी तथा तमिलनाडु में महाबलीपुर, आदि स्थानों की कला में श्रीकृष्ण की लीलाओं के विविध मनोरंजक रूप विद्यमान हैं। जावा के प्रंबनं तथा पनतारन नामक स्थानों के अतिरिक्त विदेशों में थाइलैण्ड (स्याम), कंबोडिया (कम्पूचिया), सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत आदि में उपलब्ध अनेक कलाकृतियां प्रमाणित करती हैं कि उन देशों में कृष्णचरित बहुत लोकप्रिय हुआ।

श्रीकृष्ण के शैशव-काल से लेकर प्रौढ़ावस्था तक उनके द्वारा विरोधियों के दलन की कथाएँ साहित्य में उपलब्ध हैं । वे उनके असाधारण साहस, शौर्य तथा युद्धकला-नैपुण्य की परिचायक हैं । अपने ब्रज निवास के समय उन्होंने पूतना-वध से लेकर कंस-संहार तक के कार्य किये । उसके पश्चात् उन्होंने जरासंध, शिशुपाल, कालयवन आदि विरोधियों को समाप्त किया । महाभारत युद्ध में उनकी भूमिका विशेष महत्त्व की रही । इस युद्ध के माध्यम से अनीति और अत्याचार का दमन कर उन्होंने नीति परक व्यवस्था की स्थापना की । गणतंत्रात्मक शासन-पद्धति को उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों में भी श्रेयस्कर माना, यद्यपि अन्ततः उस व्यवस्था को चलाने में वे अनेक कारणों से सफल नहीं हो सके ।

ब्रजवासी कृष्ण की वीरता के परिचायक अनेक दृश्य भारत तथा उसके बाहर कई स्थानों से प्राप्त कलाकृतियों में उपलब्ध हैं । भीतरगाँव (जि० कानपुर) के गुप्त-कालीन मन्दिर के मृत्फलकों में केशी, वृषभासुर एवं कुवलयापीड़ के वध के अलावा कंस-वध का भी अंकन मिलता है । श्रावस्ती से कुछ बड़े आकार के मिट्टी के फलक मिले हैं, जिन पर केशी, धेनुक आदि के वध प्रदर्शित हैं । एरण (जिला सागर) में कई शिलापट्टों पर यमलार्जुन-उद्धार आदि के अतिरिक्त कंस का संहार भी दिखाया गया है । देवगढ़ में एक पाषाण-पट्ट पर अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण प्रदर्शित हैं । अन्य शिलापट्टों पर शकट-वध, कंस-वध आदि के दृश्य हैं ।

देवराज इन्द्र का अभिमान तोड़ने तथा उसके कोप से ब्रजवासियों की रक्षा हेतु श्रीकृष्ण के द्वारा गोवर्धन पर्वत उठाने की कथा बहुत प्रसिद्ध थी । गोवर्धन-धारण का दृश्य आरम्भिक गुप्तकालीन मिट्टी के एक फलक पर रंगमहल से मिला था । मध्य एशिया से प्राप्त एक मृदुभांड पर भी यह दृश्य अंकित है ।[3] मथुरा, मंडोर, बादामी आदि में भी गोवर्धनधारी कृष्ण की प्रतिमाएँ मिली हैं । भारत कला भवन की विशाल गोवर्धनधर मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है । एलोरा में भी चतुर्भुज गोवर्धनधारी कृष्ण का आलेखन है ।

बंगाल के पहाड़पुर नामक स्थान में आठवीं-नवीं शती के कई कलापूर्ण फलक मिले हैं। उनमें से एक पर बलराम तथा कृष्ण के द्वारा क्रमशः चाणूर तथा मुष्टिक के साथ मल्ल युद्ध प्रदर्शित है ।

खजुराहो की चंदेलकालीन कला में पूतना-वध के अलावा बक, शकट, प्रलंब, अरिष्ट आदि असुरों का वध तथा कुवलयापीड़ एवं चाणूर, शल आदि का संहार प्रदर्शित हैं । वहाँ कंस-वध का दृश्य नहीं प्राप्त हुआ । खजुराहो की कृतियों की एक अन्य विशेषता यह है कि उनमें श्रीकृष्ण को शिशु या किशोरावस्था में दिखाने के बजाय युवावस्था में प्रदर्शित किया गया है ।

कालियदमन का एक उल्लेखनीय शिलापट्ट मथुरा में कंस-किला से मिला था जो उत्तर गुप्तकालीन है । दक्षिण भारत के धर्मराजगिरि आदि स्थानों से भी कालियदमन के दृश्य मिले हैं ।

देवगढ़ के एक खंडित शिलापट्ट पर अर्जुन के साथ आयुध-धारी श्रीकृष्ण का अंकन उल्लेखनीय है[4] यह गढ़वा वाले प्रसिद्ध पट्ट का स्मरण दिलाता है । उसमें श्रीकृष्ण गदा, चक्र तथा शंख लिये हुए खड़े हैं । उनके समीप अर्जुन हैं । भीम और जरासंघ मल्लयुद्ध में संलग्न हैं । श्रीकृष्ण को यहाँ चार भुजाओं वाला दिखाया है ।

वासुदेव-कृष्ण की अनेक प्राचीन कलाकृतियों में उनका गोपवेश तो परिलक्षित है, पर उन्हें माखन-चोर वंशीवादक या रासलीला वाले कृष्ण के रूप में नहीं आलेखित किया गया। उन्हें गदा, चक्र एवं शंखधर वीर के रूप में प्रदर्शित किया गया। यह वैदिक विष्णु तथा यदुवंशी क्षत्रिय कृष्ण का समन्वित रूप था,

गुप्तकाल में पंचदेवोपासना संवर्द्धित हुई। इन पांचों देवताओं (विष्णु शिव, सूर्य, देवी तथा गणेश) में विष्णु लोकरक्षक एवं लोकतत्व स्थापक होने के कारण सर्वाधिक आदृत हुए। अब सुपर्ण गरुड़ उनका वाहन बना। पंख पसारे हुए गरुड़ पर शंख, चक्र, गदाधारी विष्णु की एक दुर्लभ प्रतिमा मिली है।[५] यह प्रारंभिक गुप्तकालीन है। कुछ समय पहले प्राप्त रामगुप्त के अनेक ताँबे के सिक्कों पर इसी प्रकार के गरुड़ पक्षी का अंकन उल्लेखनीय है।

गुप्त-युग में कृष्ण विष्णु के साथ उक्त तीनों आयुधों में कमल जुड़ गया। इस प्रकार अब उनके आयूधों की संख्या चार हो गयी। गुप्त-काल में बौद्ध अनुकरण वाली अभयमुद्रा अब विष्णु की प्रतिमाओं में अगोचर हो गयी और मैत्रेय की अनुकृति वाला घट भी समाप्त कर दिया गया। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि गुप्त शासक अपने को "परमभागवत" लिखते थे, न कि परमवैष्णव।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की 'चक्रविक्रम' प्रकार वाली दुर्लभ स्वर्ण मुद्रा पर अंकित देवता, उनके आयुध तथा सम्राट् की उक्त उपाधि भी विचारणीय है। अभी तक विष्णु के साथ सात्वत-भागवत वाली पुष्ट विचारधारा बलवती थी। उत्तर गुप्त युग से विष्णु के साथ श्री और भूदेवी का अंकन मिलने लगता है तथा विष्णु की संज्ञाओं में वृद्धि मिलने लगती है।

यहाँ पांचवी शती के उत्तरार्द्ध की भुमरा वाली विष्णु-मूर्ति का उल्लेख युक्तिसंगत होगा। विष्णु को अलंकृत मौक्तिकमाल के अन्तर्गत फुल्ले में वीरभाव में आसीन दिखाया गया है। बाएँ हाथ में धारण की गयी उनकी विशाल गदा मुकुट के सीध तक पहुँचती है। उनके एक ओर श्री तथा दूसरी ओर भूदेवी हैं। वासुदेव विष्णु का यह वीरभाव गुप्तकाल में विशेष आदृत हुआ। उस समय उन्हें सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान देव का रूप मिला। तत्कालीन अनेक मूर्तियों के अलावा मंदसौर से प्राप्त नरवर्मा के शिलालेख तथा अन्य कई लेखों से इसकी पुष्टि होती है। नरवर्मा के लेख में वासुदेव विष्णु की स्तुति महत्वपूर्ण है। अजन्ता आदि में निर्मित बुद्ध की अनेक पाषाण-प्रतिमाओं में भी विष्णु के इस सर्वशक्तिमान रूप की प्रेरणा दृष्टिगोचर होती है।

गुप्तकाल से अवतारवाद का उन्नयन हुआ, विष्णु के दस मुख्य तथा अनेक गौण अवतार स्थापित हुए। उनके वीर-रूप की स्मृति मुख्य अवतारों में स्पष्टतः दर्शनीय है। वराह, नृसिंह तथा वामन (त्रिबिक्रम) वीरत्व के परिचायक हैं। बाद के क्रम में परशुराम, दाशरथि राम और कृष्ण भी अत्याचार के दमन-कर्त्ता वीर-लक्षण सम्पन्न हैं।

विष्णु की त्रिमुख प्रतिमाओं के मध्यवर्ती विष्णु-मुख के साथ वराह तथा नृसिंह के रूप दर्शनीय हैं। त्रिविक्रम रूप वाली भी कई प्राचीन मूर्तियां मथुरा पवाया आदि से मिली हैं। ग्वालियर संग्रहालय में चतुर्मुख विष्णु की एक विशेष प्रतिमा है।[६] प्रतीहार कालीन इस चौकोर शिलापट्ट पर सामने गरुड़ासीन चतुर्भुज विष्णु हैं। पट्ट के तीन ओर क्रमशः त्रिविक्रम, नृसिंह तथा पृथ्वी का उद्धार करते हुए वराह की मूर्तियां हैं। चतुर्मुख विष्णु की मूर्तियां मध्यकाल में अन्य कई स्थानों से मिली हैं।

वासुदेव-विष्णु की मल्हार वाली मूर्ति कई दृष्टि से महत्व की है।[७] उसपर उत्कीर्ण मौर्य ब्राह्मी लेख के अनुसार उसका निर्माण-काल ई० पू० २०० के आसपास रखा जा सकता है। चतुर्भुज वासुदेव की इस प्रतिमा में उनके मुख्य आयुध गदा, चक्र और शंख उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की मूर्ति की परम्परा ईसवी चौथी शती तक थोड़े बहुत अन्तर के साथ जारी रही। यूनानी शासक, अगाथोक्लीज के सिक्के पर तथा मथुरा, उदयगिरि आदि अनेक स्थानों से प्राप्त वासुदेव-विष्णु की मूर्तियों से यह बात पुष्ट होती है।[८]

कुछ विद्वानों का यह विचार कि पंचाल शासक विष्णुमित्र (समय ई० पूर्व प्रथम शती) के एक मुद्रा-प्रकार पर विष्णु की प्रतिमा है, ठीक नहीं है। इस प्रकार के सिक्के पर सम्बन्धित आकृति विष्णु की न होकर गरुड़ की है।

प्रारम्भिक भारतीय कला में वासुदेव विष्णु को द्विभुज, चतुर्भुज या अष्टभुज रूप में दिखाया गया है। डॉ० नी० पु० जोशी ने इनका विस्तृत अध्ययन किया है।[९] यहां कुछ मुख्य लक्षों की ओर संकेत करना आवश्यक है :

१—देवता का कलंगी वाला उष्णीश मुकुट श्रीकृष्ण के गोपवेश का परिचायक है।

२—मुख्य आयुध गदा, चक्र और शंख मिलते हैं। उनके धारण करने के प्रकार में कुछ अन्तर मिलता है।

३—अष्टभुजी प्रतिमाओं में अन्य आयुधों के साथ असि तथा पर्वत भी प्रदर्शित हैं। असि का प्राचीतम रूप मल्हार वाली प्रतिमा में है। पर्वत गोवर्धन गिरि का द्योतक कहा जा सकता है। धनु और इषु (बाण) आयुध भी उल्लेखनीय है।

४—मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन कई विष्णु मूर्तियों में उनका एक हाथ अभयमुद्रा में मिलता है। वरदमुद्रा कम मिली है। कुछ मूर्तियों में हाथ में घट मिलता है, ये लक्षण बौद्ध प्रभाव के द्योतक हैं। मथुरा से बाहर वासुदेव विष्णु की जो मूर्तियाँ मिली है, उनमें उक्त बौद्ध लक्षणों का अभाव है।

विष्णु की चतुर्व्यूह तथा पंचव्यूह मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं। वृष्णि-सात्वत् वंश के पंचवीरों की कल्पना प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों से उपलब्ध है। मथुरा के मोरा-अभिलेख तथा मथुरा संग्रहालय की प्रसिद्ध चतुर्व्यूह-प्रतिमा विशेष महत्व की हैं। विष्णु स्मृति (१, १६) का 'एकव्यूहश्चतुर्वक्त्र' कथन इस दृष्टि से युक्तिसंगत है।

कोंडामोतु से प्राप्त पंचवीर-पट्ट यहां विशेष रूप से उल्लेख्य है। इस पर पांचों वृष्णि वीर अपने आयुधों सहित प्रदर्शित हैं। इस पट्ट की एक विशेषता यह है कि उस पर वासुदेव और प्रद्युम्न के बीच नृसिह को बैठा हुआ दिखाया गया है। वे उत्थित दो हाथों में क्रमशः गदा और चक्र धारण किए हैं। वासुदेव कृष्ण के एक हाथ में शंख है।

प्रारम्भिक गुप्त-युग तक की वासुदेव-विष्णु की अनेक मूर्तियों में कृष्ण के मयूर मुकुट के साथ वनमाला का अंकन भी दर्शनीय है, जो उनके गोप वेश का परिचायक है।

मध्यकाल में श्रीकृष्ण की वीरलक्षण-सम्पन्न प्रतिमाओं का निर्माण उत्तर तथा दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में जारी रहा। दक्षिण भारत में बादामी के प्रारम्भिक चालुक्यों के समय से लेकर विजयनगर शासकों के समय तक श्रीकृष्ण के मंदिरों तथा मूर्तियों का निर्माण प्रचुर रूप में हुआ। उनकी मूर्तियाँ पत्थर तथा मृत्तिका के अतिरिक्त, धातु, हाथी दांत आदि की बनती थीं। चोलों के समय में श्रीकृष्ण की काँस की अनेक सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित हुईं।

उत्तर-मध्यकाल में चित्रकला का क्षेत्र विवेच्य विषय के लिए बहुत उर्वर सिद्ध हुआ। राजस्थानी, बुन्देली, मालवा, पहाड़ी कलाओं के अतिरिक्त दक्षिण की चित्रकला में श्रीकृष्ण की व्रज लीलाएँ प्रभूत मात्रा में मिलती हैं। उनके अलावा द्वारका तथा महाभारत के कृष्ण के विविध रूप भारतीय चित्रकला में रूपायित किये गये।

अन्त में एक तथ्य पर विचार आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य तथा पुरातत्वीय प्रमाणों से भासित होता है कि श्रीराम का आविर्भाव कृष्ण के पहले हुआ। दोनों को विष्णु के मुख्य अवतारों में स्थान दिया गया। पर ऐसे प्राचीन प्रमाणों का अभाव है जिनसे गुप्तकाल के पहले राम के मन्दिर या मूर्ति बनने या उनके अनुयायियों के अस्तित्व का पता चलता हो। मेगास्थनीज, एरियन आदि विदेशी यात्रियों के विवरणों से मथुरा तथा केशवपुरा में हेराक्लीज देवता की पूजा का उल्लेख मिलता है। हेराक्लीज को कृष्ण का ही परिचायक 'हरिकेशव' या 'हरिकृष्ण' माना जा सकता है।

वासुदेव-कृष्ण के अनुयायी 'वासुदेवकों' के प्राचीन उल्लेख, ईसवी पूर्व में उनके देवकुलों तथा मूर्तियों का निर्माण, ईसवी पूर्व द्वितीय शती के यूनानी शासक अगाथोक्लीज के सिक्के पर बलराम के साथ वासुदेव कृष्ण का अंकन, एक अन्य यूनानी राजा ऐटिअल्काइडिस के द्वारा उन्हें 'देवदेव' कहना तथा उनके मन्दिर के सामने विदिशा में गरुड़ध्वज की स्थापना आदि अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। ई० पूर्व दूसरी शती के नानाघाट के प्रसिद्ध लेख में वैदिक देवों के साथ 'संकर्षण वासुदेव' को भी देव माना गया है।

श्रीराम के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि उन्होंने आर्य-संस्कृति के दुर्दान्त विरोधी रावण का संहार करके आर्य सभ्यता को विंध्य के दक्षिण में व्यवस्थित रुप से प्रसारित किया। उन्होंने निषादों, गिरिजनों आदि से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए और आर्य मर्यादा का उत्कृष्ट ढंग से पालन किया। तो भी यह विचारणीय है कि गुप्तकाल के पहले श्रीराम देवरुप में अधिष्ठित नहीं हुए, जैसा कि कृष्ण हुए, यद्यपि रामकथा की परम्परा कृष्ण-कथा से पहले की है।

श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि राजा न होकर भी उन्होंने राजनीति का असाधारण परिचय दिया। उन्होंने अपने समय की विशृंखलित आर्य मर्यादा को पुनः संस्थापित किया। देश के लिए गणतंत्र व्यवस्था की उपादेयता का परीक्षण किया। धरती और जनजीवन के साथ उनका अटूट सम्बन्ध बना रहा। उन्होंने अत्याचार के दमन एवं ऋत की व्यवस्था-हेतु इन्द्र तथा वरुण के सम्मिलित गुणों का निर्वाह किया और कर्मपरक जीवन-दर्शन को प्रतिष्ठित किया। संभवतः इन्हीं कारणों से श्रीकृष्ण को भारतीय संस्कृति में अप्रतिम स्थान प्राप्त हुआ।

संदर्भ

१—सुत्तनिपात की निद्‌देस टीका, मिलिंदपञ्ह आदि ग्रन्थों से भी इसकी पुष्टि होती है ।

2—ARTS ASIATIQUE, XXVI (1913) pp. 113-23.
A. K. Narain, JNSI, Vol. XXXV (1973), p. 73-77.
Doris Srinivasan in Archives of Asian Art, XXXII (1979) pp. 39-54 fig. 23-24.

3—R. C. Agarwal, JISOA, Vol. II (New Series) p. 69.

४—नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० १०४ ।

५—वही, पृ० ८६, चित्र ५६, मथुरा संग्रहालय संख्या ५६-४.

६—डोरिस श्रीनिवासन, वही, पृ० ४५-४७, चित्र १५-१८ ।

७—द्रष्टव्य बाजपेयी, मल्हार (सागर, १९७८) पृ० २७, फलक १० ।

८—विस्तार के लिए, द्रष्टव्य जोशी, वही, पृ० १०४-११३ तथा कैटलॉग आफ द ब्रह्मैनिकल स्कल्पचर्स इन द स्टेट म्यूज़ियम, लखनऊ पृ० ७-८, १५-१६ ।

९—जोशी, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० ७४ तथा आगे ।
जे० एन० बनर्जी, डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृ० १९०-१९१ ।

खजुराहो–शिल्प में कृष्ण–लीला

रामाश्रय अवस्थी

वसुदेव-देवकी के पुत्र कृष्ण विष्णु के आठवें अवतार माने जाते हैं। उनका जीवन-चरित्र अनेक पुराणों-हरिवंश, भागवत, विष्णु आदि तथा अन्य विभिन्न ग्रन्थों में प्राप्त होता है। उनका व्यक्तित्व इतना उदात्त, लोकरंजक एवं व्यापक रहा है कि न केवल भारतीय साहित्य में उसका बहुमुखी वर्णन मिलता है, वरन् ललित-कलाएं भी उससे ओतप्रोत हैं। शिल्पियों के लिए तो कृष्ण-लीला अत्यन्त प्राचीन काल से एक मधुर विषय रही है और उन्होंने कृष्ण की जीवन-झांकी विविध रूपों में अंकित कर अपनी कला को धन्य माना है। ऐसे अनेक चित्रण भारत के विभिन्न भागों में, काश्मीर से महाबलीपुरम् और बंगाल से सौराष्ट्र तक, पाए गए हैं। किन्तु इन सभी चित्रणों में विविधता और शिल्पीकरण की दृष्टि से खजुराहो-चित्रण बेजोड़ हैं।

खजुराहो में कृष्ण-लीला सम्बन्धी मूर्तियां अधिकांशतः लक्ष्मण मन्दिर में उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिर के प्रदक्षिणापथ के चारों ओर, गर्भगृह जंघा पर इन ग्यारह दृश्यों की मूर्तियां हैं। पूतना-वध, शकट-भंग, तृणावर्त—वध, यमलार्जुन—उद्धार, वत्सासुर—वध, कालिय—मर्दन, अरिष्टासुर—वध, कुब्जानुग्रह, कुवलयापीड-वध, चाणूर-युद्ध तथा शल-युद्ध। ये सब अत्यन्त सुन्दर मूर्तियां हैं। इस प्रकार कृष्ण-लीला-चित्रण की दृष्टि से खजुराहो में यह सर्वाधिक महत्व का मन्दिर है। इस मन्दिर की यमलार्जुन-मूर्ति के सदृश एक सुन्दर मूर्ति पार्श्वनाथ नामक जैन मन्दिर में भी उत्कीर्ण है और इस दृश्य का एक छोटा अंकन विश्वनाथ मन्दिर में भी लेखक को मिला है। इसके अतिरिक्त, पूतना-वध का भी एक छोटा चित्रण इस मन्दिर में प्राप्त है। स्थानीय संग्रहालय में कृष्ण जन्म की एक सुन्दर मूर्ति सुरक्षित है। उपर्युक्त मूर्तियों के अतिरिक्त, खजुराहो में दो शिलापट्ट भी उपलब्ध हैं, जिनमें कृष्ण-लीला के अनेक दृश्य चित्रित हैं।

डॉ० रामाश्रय अवस्थी, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

कृष्ण जन्म

खजुराहो संग्रहालय में सुरक्षित कृष्ण-जन्म की मूर्ति बड़ी सुन्दर है ।[1] इसमें कृष्ण की मां देवकी शेष-शय्या (एक पर्यंक पर व्यवस्थित शेष-कुण्डलियों) पर दाएं करवट लेटी हुई प्रदर्शित हैं । उनके साथ शिशु कृष्ण लेटे हुए हैं । विष्णु भगवान के ये बालरूप होने के कारण ही शेष इनको शय्या दे रहे हैं (इस सन्दर्भ में विष्णु की शेषशायी मूर्तियाँ द्रष्टव्य हैं) । देवकी विशाल किरीट-मुकुट (वैष्णव लांछन), हार, ग्रैवेयक, कुण्डल, कंकण, वलय, केयूर तथा मुक्ता-ग्रथित कटिसूत्र-आभूषणों से अलंकृत हैं । किरीट-मुकुट के ऊपर शेष-फणों का विशाल घटाटोप है । ऊपर की ओर मुड़ा हुआ उनका दाहिना हाथ उनके किरीट मुकुटधारी मस्तक को आश्रय दिए है और बायां वे अपने दाहिने स्तन पर रखे हैं, मानों निकट लेटे हुए कृष्ण को वे दूध पिलाने के लिए उद्यत हों, जिनका मुख इसी स्तन के पास है । मूर्ति खण्डित होने के कारण देवकी के चरण टूट गए हैं । सम्भव है अन्य स्थानों से प्राप्त ऐसी मूर्तियों के सदृश इसमें भी उनके चरणों का संवाहन करती हुई लक्ष्मी चित्रित रही हों । पर्यंक के नीचे एक पद्म के ऊपर एक शंख (दोनों वैष्णव लांछन) रखा है, जिसके सम्मुख बैठी हुई चामरधारिणी की एक नन्हीं-सी आकृति है । पर्यंक से अलग (घटाटोप के पीछे) एक अन्य अनुचरी बैठी है, जिसके दाहिने हाथ में चामर और बाएं में पूर्ण विकसित पद्म है । चित्रण के सबसे ऊपर पंक्तिबद्ध बैठे नवग्रहों की आकृतियाँ हैं, जिनमें से कुछ ग्रह मूर्ति खण्डित होने के कारण लुप्त हो गए हैं ।

खजुराहो की इस मूर्ति के सदृश निर्मित कृष्ण जन्म की तीन अन्य मध्य भारतीय मूर्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं । इनमें एक ग्वालियर संग्रहालय[2] और दो धुबेला संग्रहालय[3] में सुरक्षित हैं । लगभग इसी प्रकार की अनेक मूर्तियाँ भारत के अन्य भागों में भी प्राप्त हुई हैं, जिन्हें कुछ विद्वानों ने कृष्ण जन्म और कुछ ने मां-शिशु, सद्योजाता,[4] यशोदा-कृष्ण, बुद्ध-जन्म, महावीर-जन्म अथवा महेश्वर-जन्म[5] माना है । निस्सन्देह ऐसी सब तथा कथित मां-शिशु मूर्तियों में कृष्ण-जन्म का ही चित्रण नहीं हुआ । उदाहरणार्थ खजुराहो संग्रहालय (सं० १८३७) की दूसरी मां शिशु मूर्ति दर्शनीय है, जिसे कृष्ण-जन्म नहीं माना जा सकता । इसमें पहली मूर्ति के सदृश मां और शिशु शेष-पर्यंक पर लेटे अवश्य हैं, किन्तु इसका और चित्रण पूर्णतया भिन्न है । इसमें मां के मस्तक पर करण्ड-मुकुट है, किरीट नहीं और शिशु के सिर पर घुंघराली केशराशि का अभाव है । मूर्ति में कहीं भी शंख, पद्म आदि कोई वैष्णव लांछन नहीं चित्रित है । मूर्ति के ऊपरी भाग में पंक्ति-बद्ध उत्कीर्ण पांच पुरुष-मस्तकों (चार जटा-मुकुट और एक किरीट मुकुट से युक्त), वृक्ष, सिंह पर आरूढ़ देवी, गणेश आदि का प्रदर्शन बड़ा ही विचित्र है । इस मूर्ति का अभिज्ञान कठिन है ।

पूतना-वध

खजुराहो में उपलब्ध पूतना–वध के चित्रणों में से सर्वोत्तम चित्रण वहां के लक्ष्मण मन्दिर में दर्शनीय है ।[6] इसमें बालकृष्ण राक्षसी पूतना का दूध पीते हुए प्रदर्शित हैं । राक्षसी ललितासन-मुद्रा में बैठी है और कृष्ण नग्न खड़े हैं । कृष्ण अपने दोनों हाथों से राक्षसी के बांये स्तन को जोर से दबा कर पी रहे हैं । दूध पीने के साथ ही साथ वे उसके प्राण भी पीते जा रहे हैं, जिससे उसके स्तनों में असह्य पीड़ा हुई है और उसका राक्षसी रूप प्रकट हो गया है । उसके गाल और पेट बिलकुल पिचके हुए हैं, नेत्र उलट

गए हैं, शरीर की नसें और अस्थियां उभर आई हैं और हाथ ऊपर की ओर फैल गए हैं—मानो वह रो रो कर कृष्ण से जीवन-दान की याचना कर रही हो। कृष्ण के मुख पर सन्तोष और प्रसन्नता तथा राक्षसी के मुख पर असह्य पीड़ा तथा भय के भावों को उभारने में शिल्पी को असाधारण सफलता मिली है।

पूतना-वध के छोटे छोटे तीन चित्रण खजुराहो में और उपलब्ध हैं—दो कृष्ण-लीला-पट्टों[7] में और एक[8] विश्वनाथ मन्दिर की एक रूपपट्टिका में। इनमें भागवतपुराण (स्कन्ध १०, अ० ६) के विवरण के अनुसार राक्षसी की गोद में लेटे हुए कृष्ण उसका एक स्तन पी रहे हैं।

कृष्ण लीला के इस दृश्य ने शिल्पियों को सदैव प्रोत्साहन प्रदान किया है। इस दृश्य के प्राचीनतम निदर्शन बादामी की गुफाओं (छठवीं शती ई०) में मिलते हैं, किन्तु खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर की मूर्ति कलाभिव्यक्ति की दृष्टि से इनसे बहुत आगे है।[9] राजस्थान के विभिन्न स्थानों, जैसे ओसियां,[10] केकीन्द (प्राचीन किष्किन्धा)[11] तथा अटरू[12] में प्राप्त इस लीला के मध्ययुगीन चित्रण भी द्रष्टव्य हैं।

शकट-भंग

इस दृश्य को प्रदर्शित करती एक स्वतन्त्र मूर्ति खजुराहो में उपलब्ध है और एक छोटा चित्रण कृष्ण-लीला-पट्ट में अंकित है। स्वतन्त्र मूर्ति[13] में चतुर्भुज कृष्ण एक छकड़े को उलटते हुए प्रदर्शित हैं। वे अपने दो प्राकृतिक हाथों से छकड़े के अग्रभाग को पकड़े हैं, बाएं पैर से उसे नीचे दबाए हैं और दाहिना पैर उसके ऊपर रखे हैं। उनका ऊपरी दाहिना हाथ कटक-मुद्रा में है और बांए में धारण किया गया पदार्थ कशा-सा प्रतीत होता है। यहां वे शिशु-रूप में नहीं, युवा-रूप में चित्रित हैं। उनके सिर पर घुंघराली केशराशि है और वे ग्रैवेयक, कुण्डल, मुक्ता-माला, केयूरों, वलयों, मुक्ताग्रथित मेखला तथा नूपुरों से अलंकृत हैं। वे नृत्य मुद्रा में प्रदर्शित हैं, मानों खेल-खेल में उन्होंने यह करतब कर दिखलाया हो।

इस दृश्य का एक छोटा चित्रण वहाँ उपलब्ध एक कृष्ण-लीला-पट्ट[14] में भी मिलता है। इसमें आलीढ़ मुद्रा में खड़े हुए बालकृष्ण अपने दोनों हाथों से छकड़े के जुआ को पकड़ कर उसे उलटते हुए प्रदर्शित है।

कृष्ण की इस लीला की कथा भागवतपुराण[15] में मिलती है। इसके अनुसार शिशु कृष्ण एक छकड़े के नीचे लेटे हुए थे, जिसे उन्होंने अपने पैर के धक्के से उलट दिया था।

कृष्ण लीला का यह दृश्य भारतीय शिल्पियों के बीच पर्याप्त लोकप्रिय रहा है। इसका प्राचीनतम चित्रण मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ में मिलता है, जिसमें शय्या पर पड़े शिशु कृष्ण अपने पैर के धक्के से छकड़े को उलटते हुए प्रदर्शित हैं।[16] गुप्तकालीन दूसरा चित्रण देवगढ़ में दर्शनीय है।[17] बादामी की दो गुफाओं (छठवीं शती ई०) में भी यह लीला अंकित मिलती है।[18] उपर्युक्त सभी चित्रणों के विपरीत खजुराहो में कृष्ण शिशु-रूप में चित्रित न हो कर बाल अथवा युवा रूप में चित्रित हुए हैं। खजुराहो के चित्रणों के सदृश युवा कृष्ण द्वारा शकट-भंग का दृश्य सोहागपुर में भी द्रष्टव्य है।[19] खजुराहो की भांति यह चित्रण भी मध्ययुगीन है और खजुराहो के शिलापट्ट में अंकित चित्रण के समरूप है। इस लीला के मध्ययुगीन चित्रण राजस्थान में भी मिले हैं।[20]

तृणावर्त-वध

खजुराहो में कृष्ण की इस लीला की मात्र एक सुन्दर मूर्ति[२१] (चित्र १) उपलब्ध है। इसमें कृष्ण तृणावर्त के स्कन्धों पर बैठे प्रदर्शित हैं। विकरालमुख तृणावर्त कृष्ण के पैरों को कस कर पकड़े है और उन्हें उड़ाकर लिए जा रहा हैं। भागवतपुराण[२२] के अनुसार तृणावर्त नाम का एक दैत्य कंस का निजी सेवक था। कंस की प्रेरणा से कृष्ण वध के उद्देश्य से वह झंझावात बन कर गोकुल आया और बैठें हुए शिशु कृष्ण को आकाश में उड़ा ले गया। यशोदा कृष्ण को अनुपस्थित देखकर और उन्हें आंधी में उड़ गया मानकर अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगीं। किन्तु कृष्ण के भारी बोझ को न सम्भाल सकने के कारण दैत्य अधिक न बढ़ सका और उसका वेग शान्त हो गया। कृष्ण ने उसका गला इस प्रकार जकड़ रखा था कि वह इस अद्भुत शिशु को अपने से अलग न कर सका। वह निश्चेष्ट हो गया, उसके नेत्र बाहर निकल आए, वाणी अवरुद्ध हो गई और अन्ततः उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। वह कृष्ण के साथ नीचे आ गिरा। नीचे गिरे दैत्य के साथ कृष्ण को देख कर यशोदा और अन्य गोपियां विस्मय में पड़ गई और कृष्ण को जीवित पाकर सभी आनन्दविभोर हो उठीं।

इस मूर्ति में तृणावर्त की उड़ान का चित्रण है। उसके स्कन्धों पर नृत्य-मुद्रा में बैठे हुए कृष्ण का चित्रण शिशु-रूप में न हो कर युवा रूप में हुआ है। कृष्ण के सिर पर घुंघराले बाल है और वे हार, ग्रैवेयक, कुण्डलों, कंकणों, केयूरों, नूपुरों, कौस्तुभमणि और मेखला से अलंकृत हैं। तृणावंत भी कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, उपवीत, वलय तथा मेखला-बद्ध वस्त्र धारण किए हैं।

कृष्ण-लीला का यह दृश्य शिल्प में बहुत कम अंकित हुआ है। बादामी के एक विशाल कृष्ण-लीला पट्ट[२३] (छठवीं शती ई०) में इस दृश्य का एक चित्रण अवश्य दर्शनीय है, जिसमें उड़ते हुए महाकाय राक्षस के स्कन्धों पर नन्हें–से कृष्ण बैठे प्रदर्शित हैं।

यमलार्जुन-उद्धार

इस लीला के कई चित्रण खजुराहो में मिलते हैं, जिनमें दो विशेष दर्शनीय हैं—एक है लक्ष्मण मन्दिर में और दूसरा पार्श्वनाथ मन्दिर में। लक्ष्मण मन्दिर की मूर्ति[२४] सर्व प्रथम उल्लेखनीय है। इसमें नृत्य करते हुए कृष्ण अपने दोनों हाथों से दो अर्जुन वृक्षों (यमलार्जुन) को उखाड़ते हुए प्रदर्शित हैं। यमलार्जुन-उद्धार की कथा भागवतपुराण[२५] में मिलती है। ये अर्जुन वृक्ष धनाध्यक्ष कुबेर के दो पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव थे, जो देवर्षि नारद के शाप से वृक्ष बन कर यमलार्जुन नाम से प्रसिद्ध हुए। कृष्ण के सान्निध्य से ये दोनों यक्षकुमार शापमुक्त हुए थे। कृष्ण ने अपनी कमर में बंधे हुए ऊखल् से इन वृक्षों को उखाड़ा था, जिनसे दोनों यक्षकुमार प्रकट हुए थे। इस मूर्ति में युवा कृष्ण किरीट-मुकुट, कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, कौस्तुभमणि, यज्ञोपवीत, कंकण, मुक्ताग्रथित मेखला और नूपुर धारण किए हैं और वे कटि के नीचे एक वस्त्र से आच्छादित हैं।

पार्श्वनाथ मन्दिर की मूर्ति[२६] आकार और निर्माण-शैली की दृष्टि से उपर्युक्त मूर्ति के सदृश है। दो शिलापट्टों में उत्कीर्ण इस दृश्य के चित्रण अपेक्षाकृत बहुत छोटे हैं।[२७] तीसरा चित्रण[२८] भी इन्हीं के

सदृश हैं । इन तीनों चित्रणों में पूर्ववत कृष्ण अपने दोनों हाथों से दो वृक्षों को उखाड़ते हुए प्रदर्शित हैं । खजुराहो की इन प्रतिमाओं के सदृश एक प्रतिमा पहाड़पुर[२९] (नवीं शती ई०) और एक (मध्ययुगीन) अटरू[३०] में भी द्रष्टव्य है । इस लीला की पूर्ववर्ती प्रतिमाओं में, भागवतपुराण के विवरण का पूर्ण अनुकरण कर, कृष्ण की कमर से बंधे ऊखल द्वारा वृक्षों का उखाड़ना प्रदर्शित किया गया है । ऐसे चित्रण बादामी की गुफाओं (छठी शती ई०) और सीरपुर के लक्ष्मण मन्दिर में द्रष्टव्य हैं ।[३१]

वत्सासुर वध

खजुराहो में उपलब्ध कृष्णायन के इस दृश्य में कृष्ण वत्सासुर का वध करते हुए प्रदर्शित हैं ।[३२] भागवतपुराण[३३] के अनुसार एक दिन कृष्ण और बलराम ग्वालबालों के साथ यमुना तट पर बछड़े चरा रहे थे । उसी समय एक दैत्य उन्हें मारने के उद्देश्य से बनावटी बछड़े का रूप धारण कर बछड़ों के झुण्ड में सम्मिलित हो गया । कृष्ण ने उसे पहचान लिया और पूंछ के साथ उसके दोनों पैर पकड़कर आकाश में घुमाते हुए उसे मार डाला । खजुराहो की इस मूर्ति में कृष्ण अपना बायां पैर पृथ्वी पर रखे हैं और दाएं पैर के बल बछड़े पर आरुढ़ हैं । वे अपने एक दाहिने हाथ से उसकी पूंछ और एक बाएं हाथ से उसका मुख मरोड़ रहे हैं । उनके ऊपरी दाएं बाएं हाथ कपित्थ-मुद्रा में प्रदर्शित हैं । युवा कृष्ण के सिर पर घुंघराली केशराशि है और वे कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, यज्ञोपवीत, केयूर, कंकण, नूपुर तथा मेखला धारण किए हैं । छठवीं शती ई० से ही यह दृश्य शिल्पियों में लोकप्रिय रहा है । इसका प्राचीनतम चित्रण बादामी में द्रष्टव्य है ।[३४]

कालिय-दमन

खजुराहो में कालिय-दमन की एक सुन्दर मूर्ति[३५] (चित्र २) । इसमें कृष्ण अपने दाहिने पैर से कालिय नाग की पूंछ का मर्दन करते हुए नृत्य-मुद्रा में प्रदर्शित हैं । उनके दोनों अधः करों में कमलनाल है । बाएं कर के कमलनाल का निचला छोर नागराज के मुख में प्रविष्ट है, मानो इससे कृष्ण उसके मुख को पिरो रहे हों । उनका ऊपरी दाहिना हाथ नृत्य-मुद्रा में और बायां पूर्ण विकसित पद्म अथवा चक्र से युक्त है । कालिय का ऊर्ध्व शरीर पुरुषाकृत और अधः सर्पपुच्छाकृत है । उसके सिर पर नागत्व सूचक तीन फणों का घटाटोप है । उसकी डाढ़ी में बाल हैं और वह कुण्डल, हार, केयूर और कंकण धारण किए है । वह बड़ी दीनतापूर्वक अपने हाथ अंजलि-मुद्रा में जोड़े है और सिर ऊपर उठा कर कृष्ण से विनती करता हुआ प्रदर्शित है । कृष्ण किरीट मुकुट तथा अन्य सामान्य खजुराहो आभूषणों से अलंकृत हैं ।

कृष्ण लीला का यह दृश्य भारतीय शिल्प में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है । इसका प्राचीनतम अंकन मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ[३६] में मिलता है, जिसमें प्रत्यालीढ-मुद्रा में प्रदर्शित कृष्ण अपने दाहिने पैर से कालिय की पूंछ का और बांए पैर से उसके फणों का मर्दन करते प्रदर्शित हैं । उनके दाहिने हाथ में कमल-पुष्पों का गुच्छा है बांए में पाश है, जिससे उन्होने कालिय को बांध रखा है । इस दृश्य की एक खण्डित मूर्ति मथुरा[३७] में उपलब्ध है । इसमें कृष्ण मुकुट, कुण्डल, हार एवं वलय धारण किए हैं । उनके द्वारा बांए हाथ में धारण किए गए पाश से स्पष्ट है कि उन्होंने नागराज पर विजय पा ली है । यह पाश नागराज के सिरके चारों

ओर लिपटा है । नागराज के सिर पर नागत्व सूचक फणों का घटाटोप प्रदर्शित है । कृष्ण के उठे हुए बांए चरण के निकट, हाथों में उपहार लिए हुए अवनतमुखी नागराज्ञी अपने पति की प्राणरक्षा के लिए प्रार्थना करती–सी प्रदर्शित है, जिनकी दयनीय मुद्रा के चित्रण में शिल्पी को अत्यधिक सफलता मिली है । कालिय-दमन की एक मृण्मूर्ति भी मथुरा से प्राप्त हुई है ।[३८] भुवनेश्वर से प्राप्त छठवीं शती ई० के ऐसे चित्रण में कदम्ब वृक्ष के साथ यमुना तट का भी प्रदर्शन हुआ है ।[३९] बादामी की गुफाओं में भी यह दृश्य अंकित मिलता है ।[४०] एक मध्य युगीन चित्रण ओसियां में भी देखा जा सकता है ।[४१] इन सभी प्रतिमाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि खजुराहो-चित्रण में कुछ मौलिकता है । इसमें कालिय की डाढ़ी में बालों का चित्रण हुआ है, जैसा अन्य किसी स्थान की मूर्ति में नहीं मिलता और उसके मुख में कमलनाल प्रविष्ट कर उसे पाश-वद्ध करने का नवीन ढंग अपनाया गया है ।

अरिष्टासुर-वध

खजुराहो में उपलब्ध अरिष्टासुर वध की मूर्ति (चित्र ३) अत्यन्त सुन्दर है ।[४२] इसमें द्विभुज कृष्ण अपने दाहिने हाथ से वृषभ (अरिष्टासुर) के दाहिने सींग को और बाएं हाथ से उसके मुख को जोर से मरोड़ रहे हैं और अपने दाहिने पैर से उसे दबाकर वश में किए हुए नृत्य करते प्रदर्शित हैं । युवा कृष्ण के सिर पर घुंघराली केशराशि है और वे सामान्य आभूषणों से अलंकृत हैं । उनके मुख-मण्डल पर झलकता अलौकिक शान्ति का भाव, बड़े सहज भाव से अरिष्टासुर को वश में करने की उनकी मुद्रा और असुर की अपार वेदनाजनित दयनीयता विशेष दर्शनीय है ।

यह मूर्ति भागवतपुराण[४३] की कथा के ठीक अनुरूप निर्मित है, जिसमें यह कहा गया है कि कृष्ण ने अरिष्टासुर के सींग पकड़ लिए और उसे पृथ्वी पर गिरा कर अपने पैरों से इस प्रकार कुचला जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ता है ।

एक कृष्ण-लीला-पट्ट में अंकित अरिष्टासुर वध का एक और दृश्य खजुराहो में मिलता है, जिसमें प्रत्यालीढ-मुद्रा में खड़े कृष्ण अपने दाहिने हाथ से सम्मुख खड़े वृषभ के दाहिने सींग को और बांए हाथ से उसके मुख को मरोड़ते प्रदर्शित हैं । यह दृश्य मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ[४४] और बादामी की गुफाओं[४५] में भी चित्रित है । इस लीला के मध्ययुगीन चित्रण राजस्थान के विभिन्न स्थानों में भी मिले हैं ।[४६]

कुब्जानुग्रह

खजुराहो में उपलब्ध कुब्जानुग्रह की मूर्ति[४७] विशेष दर्शनीय है (चित्र ४) । इसमें कंस-भवन में प्रवेश करने के पूर्व मथुरा नगरी में विचरण करते हुए कृष्ण बलराम और उनके सम्मुख खड़ी हुई कुब्जा का चित्रण है । कुबड़ी युवती के रूप में चित्रित कुब्जा अपने हाथ ऊपर उठा कर अंगराग कृष्ण को भेंट कर रही है, जिसे कृष्ण प्रसन्नतापूर्वक अपने दाहिने हाथ में ग्रहण कर रहे हैं । मन्द मन्द मुस्कराते हुए सुन्दर सुकुमार रसिक के रुप में चित्रित कृष्ण बलराम की ओर मुड़कर उनसे कुब्जा की भेंट स्वीकारनें की अनुमति ले रहे हैं । कृष्ण की भांति बलराम भी द्विभुज हैं । उनका दाहिना हाथ चिन्मुद्रा में है और बांए में वे हल धारण किए

हैं। कृष्ण किरीट मुकुट, वनमाला तथा अन्य सामान्य आभूषणों से अलंकृत है। कृष्ण के समान बलराम भी अलंकृत हैं, किन्तु उनके सिर पर मुकुट न होकर नागत्व-सूचक फणों का घटाटोप है।

यह अत्यन्त सजीव मूर्ति है। कृष्ण, बलराम और कुब्जा-तीनों का चित्रण भावपूर्ण है। कृष्ण के मुस्कराते मुख पर चपलता का भाव चित्रित है और उनके द्वारा भेंट स्वीकृत होने पर कुब्जा आनन्द से फूली नहीं समा रही है। कृष्ण की सुन्दरता, सुकुमारता, रसिकता, मन्द मुस्कान, चारु चितवन और उनके प्रेमालाप पर उसने अपना हृदय न्योछावर कर दिया है। कृष्ण की चपलता के विपरीत बलराम में गम्भीरता है और उनमें बड़े भाई की गुरुता का भाव प्रदर्शित करने में शिल्पी ने असाधारण कौशल दिखलाया है।

इस कृष्ण-लीला के अन्य शिल्प निदर्शन बहुत ही कम उपलब्ध हैं। खजुराहो के अतिरिक्त, सोहागपुर[४८] के दो अर्धचित्रों में भी यह दृश्य अंकित मिलता है।

कुवलयापीड-वध

कृष्ण द्वारा कुवलयापीड नामक हाथी के वध का एक सुन्दर चित्रण[४९] भी खजुराहो मे उपलब्ध है। इसमें त्रिभंग खड़े हुए विनतमुख तथा चतुर्भुज कृष्ण अपने दो हाथों से कुवलयापीड की सूड़ जोर से मरोड़ रहे हैं और अपने बाएं पैर से कुवलयापीड को नीचे दबाए हैं। उनके ऊपरी दाहिने हाथ में गदा है जिससे उस पर प्रहार करने को उद्यत है। उनका ऊपरी बायां हाथ खण्डित है। वे किरीट-मुकुट तथा अन्य सामान्य आभूषणों से आभूषित हैं। कुवलयापीड पर उन्होंने पूर्ण विजय पाली है, जो अत्यन्त पीड़ित दिखाई पड़ रहा है। इस चित्रण का आधार भागवतपुराण[५०] की वह कथा है, जिसमें यह उल्लेख है कि कृष्ण ने कुवलयापीड की सुड़ पकड़ कर उसे धरती पर पटक दिया था और उसके धराशायी हो जाने पर उन्होंने सिंह के समान खेल ही खेल में उसे पैरों से दबा कर मार डाला।

कुवलयापीड-वध का प्राचीनतम चित्रण बादामी[५१] (छठवीं शती ई०) में मिलता है और तब से यह दृश्य निरन्तर मूर्तिकारों में लोकप्रिय रहा है, किन्तु खजुराहो की यह मूर्ति अत्यन्त प्रभावशाली है, और विलक्षण भी। सामान्यतः अन्य स्थानों की मूर्तियों में कुवलयापीड कृष्ण की तुलना में बहुत ही बड़ा प्रदर्शित है, किन्तु खजुराहो में यह कृष्ण से छोटा है, जिसे कृष्ण बड़े सहजभाव से वश में किए है।

चाणूर-वध

एक मूर्ति में कृष्ण कंस के एक मल्ल, सम्भवतः चाणूर, की टांग खींच कर उसका वध करते प्रदर्शित हैं।[५२] इसमें चतुर्भुज कृष्ण अपने एक बांए हाथ से मल्ल की गर्दन जोर से पकड़े हैं और दाएं-बाएं दो प्राकृतिक हाथों से उसकी दाहिनी टांग खींच रहे हैं। शेष एक दाहिने हाथ से वे गदा ऊपर उठा कर मल्ल पर प्रहार करने को उद्यत हैं। टांग खीचे जाने पर मल्ल अपना संतुलन खो बैठा है और वह द्वन्द्व युद्ध में पराजित होकर पूर्णतया कृष्ण के वश में है। अपना दाहिना हाथ वह सिर के ऊपर उठा कर गदा के प्रहार से अपनी रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील है और अत्यन्त भयभीत दिखाई पड़ रहा है। कृष्ण किरीट-

मुकुट, कुण्डल, हार, ग्रैवेयक, अंगद, वलय, मेखला, नूपुर और वनमाला धारण किए हैं। चाणूर की डाढ़ी के बालों का प्रदर्शन हुआ है और वह भी कुण्डल, ग्रैवेयक, वलय तथा मेखला से अलंकृत हैं।

कृष्ण-चाणूर-युद्ध का एक चित्रण खजुराहो के एक कृष्ण-लीला-पट्ट में भी मिलता है। इसमें चाणूर उपर्युक्त मूर्ति के सदृश पराजित नहीं चित्रित है, वरन् वह द्विभुज कृष्ण से मल्ल युद्ध करता प्रदर्शित है। इस चित्रण से मिलने जुलते चित्रण बादामी की गुफाओं और सीरपुर के लक्ष्मण मन्दिर में प्राप्त हैं।[५३]

शल-वध

एक अन्य मूर्ति में श्री कृष्ण एक मल्ल से युद्ध करते प्रदर्शित हैं।[५४] यह कंस का शल नामक मल्ल हो सकता है। द्विभुज कृष्ण अपने दाहिने हाथ से गदा उठाकर उस पर प्रहार करने को उद्यत हैं और बाएं हाथ से प्रतिद्वन्दी के उठे हुए दाहिने हाथ को पकड़े हैं। उसने गदा के प्रहार से अपने सिर की रक्षा करने के लिए यह हाथ उठा लिया है। उसका बायां हाथ तर्जनी-मुद्रा में है। कृष्ण किरीट-मुकुट वनमाला तथा अन्य सामान्य आभूषणों से विभूषित हैं। शल कुछ भीमकाय चित्रित है और वह भी मुकुट और वनमाला को छोड़ कर कृष्ण के सदृश आभूषण धारण किए है। द्वन्द्वयुद्ध के इस दृश्य में ओजस्विल, उत्तेजना और शक्ति के प्रदर्शन में शिल्पी को अपूर्व सफलता मिली है। इस दृश्य के अन्य अंकन बादामी और सीरपुर में भी द्रष्टव्य हैं।[५५]

केशी-वध

खजुराहो में केशी-वध की कोई स्वतन्त्र मूर्ति नहीं मिली है, किन्तु यहां उपलब्ध दोनों कृष्ण-लीला पट्टों में कृष्ण की इस लीला का चित्रण हुआ है। केशी-वध की कथा भागवतपुराण[५६] में मिलती है। केशी एक दैत्य था, जो कंस की प्रेरणा से अश्व के रूप में आकर कृष्ण को मारना चाहता था। पहले पट्ट[५७] में कृष्ण और अश्व केशी के बीच हो रहे युद्ध का प्रदर्शन है। प्रचण्ड केशी अपने आगे के पैर उठाए कृष्ण पर झपटता हुआ प्रदर्शित है और कृष्ण अपने दाहिने हाथों से उस पर प्रहार कर रहे हैं। दूसरे पट्ट[५८] में खड़े हुए केशी के पैर ऊपर नहीं उठे हैं और उस पर प्रहार करते हुए कृष्ण उसके सम्मुख हैं। इसमें कृष्ण की आकृति खण्डित है।

कृष्ण की यह लीला भारतीय मूर्तिकला में कुषाणकाल से ही लोकप्रिय रही है। इस लीला के प्राचीनतम चित्रण (कुषाणकालीन) मथुरा से प्राप्त हुए हैं। ऐसा एक चित्रण मथुरा संग्रहालय[५९] में और एक कराची संग्रहालय[६०] में सुरक्षित है। मण्डोर के एक गुप्तकालीन स्तम्भ में भी केशी वध का सुन्दर अंकन है।[६१] इसी काल का एक सुन्दर चित्रण बलभी (सौराष्ट्र) से उपलब्ध हुआ है।[६२] एक चित्रण सीरपुर के लक्ष्मण मन्दिर (६०० ई०) में देखा जा सकता है।[६३] इनके अतिरिक्त मध्य-युगीन अनेक चित्रण राजस्थान के विभिन्न स्थानों, जैसे आबानेरी[६४], ओसियां[६५] किराडू[६६], तथा अटरू[६७] में पाए गए हैं।

कृष्ण-लीला-पट्ट

खजुराहो में कृष्णायन के अनेक दृश्यों से अंकित दो शिलापट्ट प्राप्त हुए हैं। पहला शिलापट्ट[६८]

विशाल है और सुरक्षित अवस्था में है । इसके आधे भाग में कंस की कारागार का चित्रण है, जिसमें अनुचर-अनुचरियों के अतिरिक्त वसुदेव और नवजात कृष्ण के साथ देवकी प्रदर्शित हैं । कारागार का बोध कराने के लिए चित्रण के प्रारम्भ और अन्त में एक-एक खड्गधारी रक्षक खड़ा प्रदर्शित है । चित्रण के प्रारम्भ में खड्गधारी रक्षक के निकट लम्बकूर्च वसुदेव बैठे हैं, जिनकी ओर मुख किए दो अनुचरियां खड़ी हैं । ये कृष्णजन्म का समाचार देने के लिए वसुदेव के पास आई हुई प्रतीत होती हैं । इनके पश्चात् कृष्ण-जन्म का दृश्य है जिसमें नवजात कृष्ण के साथ देवकी अर्धशायी प्रदर्शित हैं । उनके पास तीन अनुचरियां हैं । चित्रण के अन्त में खड़ी हुई देवकी नवजात शिशु को, यशोदा के पास ले जाने के लिए, वसुदेव को दे रही हैं ।

शिलापट्ट के शेष आधे भाग में कृष्ण-लीला के कई दृश्य अंकित है—प्रारम्भ में बाललीला का एक सुन्दर चित्रण है । इसमें दो गोपियां दधि मथ रही हैं और नन्हें कृष्ण दधि-भाण्ड का आश्रय लिए हुए खड़े हैं, मानो नवनीत के लिए मचल रहे हों । दूसरा दृश्य पूतना-वध का है, जिसमें राक्षसी की गोद में लेटे हुए शिशु कृष्ण दूध के साथ उसके प्राण पी रहे हैं । इस दृश्य के पश्चात एक स्थूलकाय व्यक्ति के दक्षिण स्कन्ध पर शिशु कृष्ण बैठे चित्रित हैं । सम्भवतः यह तृणावर्त-वध का दृश्य है । उसके पश्चात् क्रमशः यमलार्जुन उद्धार, अरिष्टासुर और केशी का वध तथा अन्त में कृष्ण-चाणूर का द्वन्द्वयुद्ध चित्रित है । अन्तिम चार दृश्यों में कृष्ण युवा-रूप में और शेष सभी दृश्यों में वे शिशु अथवा बाल रूप में चित्रित हैं ।

दूसरा शिलापट्ट[९] अपेक्षाकृत छोटा है और इसका एक भाग खण्डित है । इसमें पूतना वध, यमलार्जुन-उद्धार, कृष्ण द्वारा कंस के एक मल्ल का वध, शकट-भंग और केशी-वध के दृश्य अंकित हैं ।

सन्दर्भ

1. खजुराहो संग्रहालय, सं॰ 1610 : डा॰ उर्मिला अग्रवाल ने भ्रान्ति से इसे सद्योजाता माना है । (Agrawala. U., *Khajuraho Sculptures and their Significance*, p. 81, Fig. 59).
2. Thakore, S. R., *Catalogue of Sculptures in the Archaeological Museum, Gwalior, M. B., p. 13*; Coomaraswamy, A. K., *History of Indian and Indonesian Art*, pp. 86, 242. Fig. 178.
3. Dikshit, S. K., *A Guide to the State Museum, Dhubela*, pp. 28-29, Pls., XII, XIII.
4. द्रष्टव्य वही, पृ॰ 28 ।
5. द्रष्टव्य Agrawala, R. C., *Indian Historical Quaaterly*, Vol. XXX, No. 4, pp. 343-44.
6. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, उत्तर की ओर, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति में उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K., *Lalit Kālā*, No, 7, p. 89, Pl. XXXIV, Fig. 11, Agrawala, U. *op. cit.*, p. 40, Fig. 17.
7. खजुराहो संग्रहालय, सं॰ 1350 : तथा पार्श्वनाथ मन्दिर के निकट. दक्षिण पूर्व की ओर बने एक आधुनिक मन्दिर में जड़ा प्राचीन पट्ट ।
8. विश्वनाथ मन्दिर, प्रदक्षिणापथ, दक्षिणी बाहरी दीवार के ऊपर बनी एक रूपपट्टिका में उत्कीर्ण ।
9. Deva, K., *op. cit.*, p. 89.

10. Agrawala, R. C., *op cit*, p. 346.
11. वही, पृ० 348 ।
12. अग्रवाल, रत्नचन्द्र, मरु-भारती, वर्ष 8, अंक 1, (जनवरी, 1960), पृ० 68 ।
13. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, दक्षिण की ओर, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति में उत्कीर्ण; तुलनीय Deva, K., *Op. cit.*, p. 87, Pl. XXXII, Fig. 6; Agrawala, U., Op. cit., p. 40, Fig. 18.
14. पार्श्वनाथ मन्दिर के निकट, दक्षिण-पूर्व की ओर बने एक आधुनिक मन्दिर में जड़ा प्राचीन पट्ट ।
15. भागवतपुराण 10, 7 ।
16. Deva, K., op. cit., p. 87, Agrawala, R. C., *Journal of the Asiatic Society, Letters and Science*, Vol. XXIII, No. 1, p. 63, Pl. 1, Fig. 1.
17. Vats, M. S., *Memoir of the Archaeological Survey of India*, No. 70, Pl. XVIII, b.
18. Deva, K., *op. cit.*, pp. 87-88.
19. Banerj, R. D., *Memoir of the Archaeological Survey of India*, No. 23, pp. 100-103, b; See also Deva, K., Op. cit., p. 88.
20. Agrawala, R. C., *Indian Historical Quarterly*, Vol. XXX, No. 4, pp. 341, 346, 350.
21. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, दक्षिण की ओर, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति में उत्कीर्ण, तुलनीय यहां भ्रान्ति से इस मूर्ति को नरवाहन पर आरुढ़ निर्मित माना गया है ।
    Deva, K., op. cit., p. 83; Agrawal, U., op, cit., p. 90, Fig. 68.
22. भागवत पुराण, 10, 7 ।
23. Geoetz, H., Journal of Oriental Institute Baroda Vol. I, No. 1, pp. 51 ff., Pl. II, Fig. 4(n) ; see also Deva, K., op. cit., p. 83.
24. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, उत्तर की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय
    Deva, K., op. cit., p. 88, Pl. XXXIII, Fig. 9.
25. भागवतपुराण, 10, 10 ।
26. पार्श्वनाथ मन्दिर, बहिर्भाग, दक्षिण की ओर, मध्य मूर्ति पंक्ति में उत्कीर्ण ।
27. पार्श्वनाथ मन्दिर के निकट, दक्षिण-पूर्व की ओर बने एक आधुनिक मन्दिर में जड़ा प्राचीन पट्ट ।
28. विश्वनाथ मन्दिर, प्रदक्षिणापथ, दक्षिणी बाहरी दीवार के ऊपर बनी एक रुपपट्टिका में उत्कीर्ण ।
29. Dikshit, K. N., Memoir of the Archaeological Survey of India, No. 55, Pl. XXVIII, d; See also Deva, K., op. cit., p. 88.
30. अग्रवाल, रत्नचन्द्र, मरु-भारती, वर्ष 8, अंक 1 (जनवरी, 1960), पृ० 68 ।
31. Deva, K., op. cit., p. 89.
32. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, उत्तर की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय
    Deva, K., op. cit., p. 89, P-l XXXII, Fig. 5.
33. भागवतपुराण, 10, 11 ।
34. Deva, K., op. cit., p. 89.
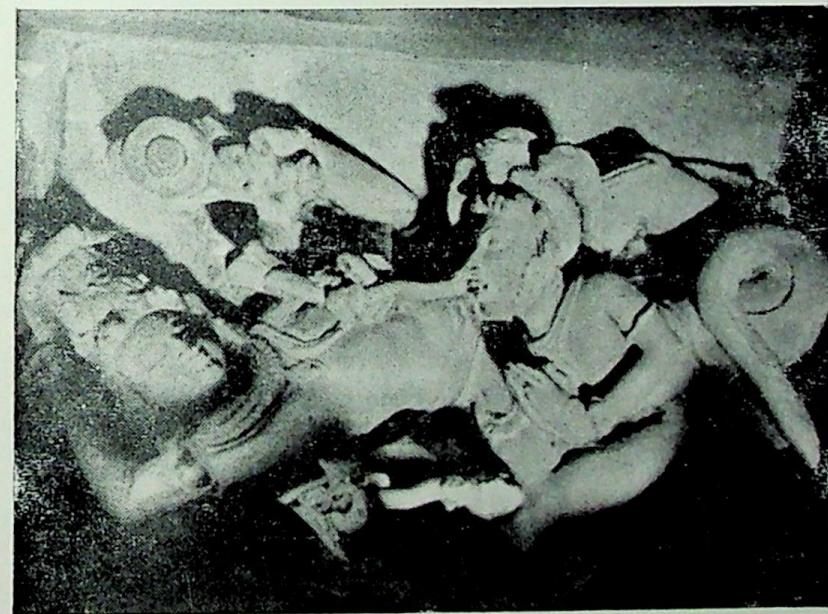
कालिय-दमन, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो
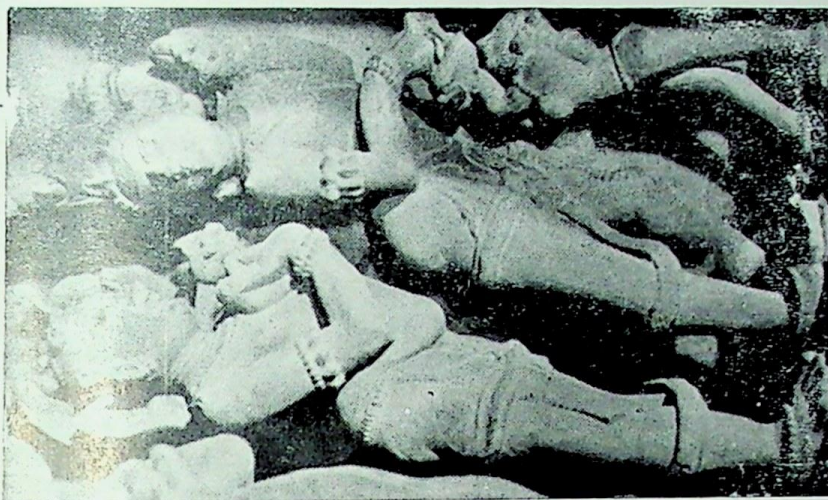
कुब्जानुग्रह, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो

तृणावर्त-वध, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो
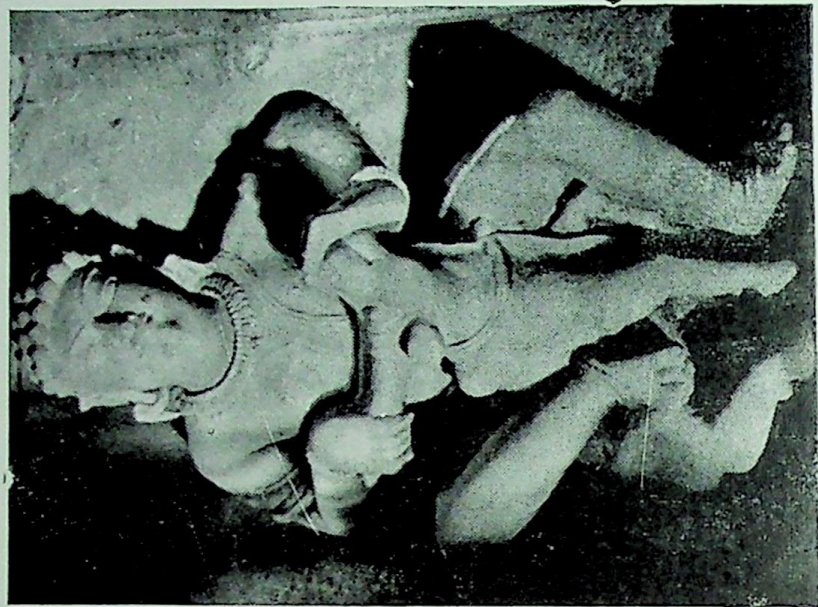
अरिष्टासुर-वध, लक्ष्मण मंदिर, खजुराहो

35. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, पश्चिम की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K., op. cit.. pp. 85-86, Pl. XXXII, Fig. 4.
36. Archaeological Survey of India, Annual Reports (New Series), 1905-06, pp. 136 ff., Figs. 1-2, 1909-10, pp. 93 ff., Pl. XLIV; See also Deva, K., op. cit., p. 86; Agrawala R. C. Journal of the Asiatic Society, Letters and Science, Vol. XXIII, No. 1, p. 64, Pl. 1.
37. बाजपेयी, कृ० द०, कला-निधि, वर्ष 1, अंक 2, पृ० 124, फलक 3, व्रजभारती, वर्ष 15, अंक 3, पृ० 33-34, और भी देखिए : कृष्णदेव, उपर्युक्त, पृ० 86 ।
38. Eotz, H., op. cit. Pl. 1; Fig. 1; See also Deva, K., op. cit., p. 86.
39. Goetz, H., op. cit., Pl. 1, Fig. 2; See also Deva, K., op. cit., p. 86.
40. Deva, K., op. cit., p. 86.
41. Agrawala, R. C., Indian Historical Quarterly, Vol. XXX, No. 4, p. 346.
42. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, उत्तर की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K., op. cit., p. 88, Pl. XXXIV, Fig. 10; Agrawal, U., op. cit., p. 40.
43. भागवतपुराण, 10, 36 ।
44. Archaeological Survey of India, Annual Reports (New Series), 1909-10, Pl. XLIV; See also Deva, K., op. cit., p. 88; Agrawala, R. C., Journal of the Asiatic Society, Letters and Science Vol. XXIII, No. 1, p. 64, Pl, Pl. 1 Fig. 2.
45. Deva, K., op. cit., p. 88.
46. Agrawala, R. C., Indian Historical Quarterly, Vol. XXX, No. 4 pp. 346, 348, 350.
47. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, पश्चिम की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K., op. cit., pp. 86-87, Pl. XXXIII, Fig. 8.
48. Banerji, R. D., op. cit., pp. 103-06, Pls. XLIII, XLIV; See also Deva, K., op. cit., p. 87.
49. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, दक्षिण की ओर उत्कीर्ण : तुलनीय डा० उर्मिला अग्रवाल ने इस मूर्ति को गजारूढ़ कुबेर मानने की भूल की है ।
    Deva, K., op. cit., p. 85, Pi. XXXI, Fig. 3; Agrawal, U., op. cit., p. 92, Fig. 69.
50. भागवतपुराण, 10, 43 ।
51. Deva, K., op. cit., p. 85.
52. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह, ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, दक्षिण की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K,, op. cit., pp. 84-85, Pl, XXXI, Fig. 2.
53. Deva, K., op. cit., p. 85.
54. लक्ष्मण मन्दिर, अन्तर्भाग, गर्भगृह ऊर्ध्व मूर्ति-पंक्ति, पश्चिम की ओर उत्कीर्ण, तुलनीय Deva, K., op. cit., p. 86, Pl. XXXII, Fig. 7.

55. Deva, K., op. cit., p. 86.
56. भागवतपुराण, 10, 37 ।
57. खजुराहो संग्रहालय, सं० 1350 ।
58. पार्श्वनाथ मन्दिर के निकट, दक्षिण-पूर्व की ओर बने एक आधुनिक मन्दिर में जड़ा प्राचीन पट्ट ।
59. Joshi, N. P. Mathura Sculptures, No. 58. 4476, pp. 68-69, Fig. 64.
60. Agrawala, R. C., Indian Historical Quarterly, Vol. XXXVIII, No. 1, p. 86.
61. Agrawala, R. C., Journal of the Asiatic Society, Letters and Science, Vol. XXIII, No. 1, p. 64, Pl. 1, Fig. 2.
62. Shah, U.P., Sculptures from Samalaji and Baroda, pp. 24-25, 118, Fig. 12, Journal of Indian Museums, Vol. VIII, Pl. V, Fig. 9, Vol. IX, Pl. XXI, Fig. 21.
63. Deva, K., Journal of the Madhya Pradesh Itihasa Parishad, No. 2, p. 40.
64. Agrawala, R. C., Bharatiya Vidya, Vol. XVI, No, 2. pp. 79-80, Lalit Kala, Nos. 1-2, pp. 131-32, Pl. LIII, Fig. 4,
65. Agrawala, R. C., Indian Historical Quarterly, Vol. XXX, No. 4, p. 346.
66. वही, पृ० 350 ।
67. अग्रवाल, रत्नचन्द्र, मरु भारती, वर्ष 8, अंक 1 (जनवरी, 1960) पृ० 68 ।
68. खजुराहो संग्रहालय, सं९ 1350 : तुलनीय
69. पार्श्वनाथ मन्दिर के निकट, दक्षिण-पूर्व की ओर बने एक आधुनिक मन्दिर में जड़ा प्राचीन पट्ट । Agrawala, U., op. cit., pp. 39-40, Fig. 16.

KṚṢṆĀVATĀRA IN SCULPTURAL ART

S. D. Trivedi

This small paper deals precisely and exclusively with the incarnatory position of Kṛṣṇa in sculptural art. Also it is more in the context of delineation of other incarnations of Viṣṇu. In literature much importance has been attached to the episodes of Kṛṣṇa's life and it was but natural for the artists to follow the tradition while chiselling in stone. However, we have to scrutinize all available material in the background of literary corroboration for proper identification of independent Avatāra images of Kṛṣṇa.

Incarnations (avatāras) are menifested forms of God assumed for some specific purposes. After the completion of the mission of his life he returns to his original self. The philosophy of this doctrine is contained in Śrīmadbhagavadgītā[1] and in other works. The names of incarnations vary with descriptions of different texts and so also their number. Later on the list became stereotyped to ten and the names of incarnations given are (1) Matsya (fish) (2) Kūrma (tortoise) (3) Varāha (boar) (4) Nṛsimha (man-lion) (5) Vāmana (dwarf) (6) Paraśurāma (7) Rāma (8) Kṛṣṇa (9) Buddha (10) Kalkin. Some texts mention the name of Balarāma deleting either Kṛṣṇa or Buddha.

Kṛṣṇa is regarded as incarnation in the great epics.[2] Several Purāṇas like Viṣṇu Purāṇa,[3] Vāyu Purāṇa,[4] Padma Purāṇa,[5] Skanda Purāṇa,[6] Brahma Purāṇa[7] mention the name of Kṛṣṇa in the series of incarnations. Some of the important Purāṇas viz. Agni Purāṇa,[8] Viṣṇudharmottara Purāṇa,[9] Matsya Purāṇa[10] omit the name of Kṛṣṇa from the list. But on the whole, literary references confirm that five incarnations viz. Varāha, Nṛsimha, Vāmana, Rāma (Rāghava) and Kṛṣṇa were widely accepted and became popular.

It is an established fact that avatāra images started being made in the Kuṣāṇa period. Images of Varāha, Nṛsimha, Hayagrīva, Vāmana have been found to this

---

Dr. S. D. Trivedi, Director, Government Museum, Jhansi (U.P.)

effect.[11] The theory of incarnation had been vigorously evolved in the Gupta period hence more representations of them in plastic art. In mediaeval period the incarnations are shown in two ways—firstly independent images and secondly avatāras depicted in series. In early mediaeval period it was almost a tradition that Viṣṇu images carved on stele include the incarnation figures. In most of cases the number is ten but sometimes lesser, even only two have got represented. Besides Daśāvatāra paṭṭas are also found in this period.

I have examined a number of Viṣṇu-images decked with daśāvatāra figures and believe that Kṛṣṇa's inclusion as avatāra is a rare feature. Three Rāmas—Dāśarathi, Jāmadagneya and Bala invariably find the place while Buddha and Kalkin are last in the series. What are possible reasons for exit of Kṛṣṇa from Daśāvatāra representations ? Before dealing this problem it would be proper to discuss those rare icons where Kṛṣṇa-vatāra is shown alongwith other incarnations.

In one Pāla sculpture[12] of Lucknow Museum representing Viṣṇu (Fig. 1) daśāvataras have been carved out in which Kṛṣṇa (Fig. 2) is included after Rāma (Rāghava) deleting Balarāma. He is standing straight (sthānaka) on lotus petals bearing Kirīṭa mukuta and long Vanamālā. He holds mace in the normal right hand and lotus in the upper right hand. In his left hands in the same order the emblems are disc and conch. The Daśāvatāras alongwith innumerable gods and goddesses have been shown on the back of Paśuvarāha image (Fig. 3) from Jhansi[13] also preserved in the State Museum, Lucknow. Here again Kṛṣṇa (Fig. 4) has been represented in lieu of Balarāma He is shown seated between Rāma and Buddha carrying mace in right upper hand, disc in left upper hand. A conch is held in lower left hand while the lower right hand is in the attitude of protection (Abhaya). Kṛṣṇa is often described as *Śaṅkhacakragadādharah* in the Purānas.

The images bearing conch, disc, mace and lotus are identified as Viṣṇu hence as per our state of knowledge no independent cult image of Kṛṣṇāvatāra is found right from Kuṣāṇa period to early mediaeval period. Here I do not count those images which are related to the life events of god and also shown with Balarāma and Ekānanśā or with others. It shows that the independent images of Kṛṣṇāvatāra were not made as we find the innumerable icons of Varāha, Nṛsimha, Vāmana and Rāma. This statement is tenable simply because we search the form of Kṛṣṇa as flute-player (Veṇugopāla) and cowherd-god (Gopāla-Kṛṣṇa). Kṛṣṇa is Pūrṇāvatāra and highly venerated by Hindus. It appears that most of the independent images of the god attributed to Viṣṇu are really representations of Vāsudeva-Kṛṣṇa,[14] It is for this reason that he is deleted from avatāras and the principal image denotes Kṛṣṇa himself. To give weight to this theory I may furnish a few supporting points ;
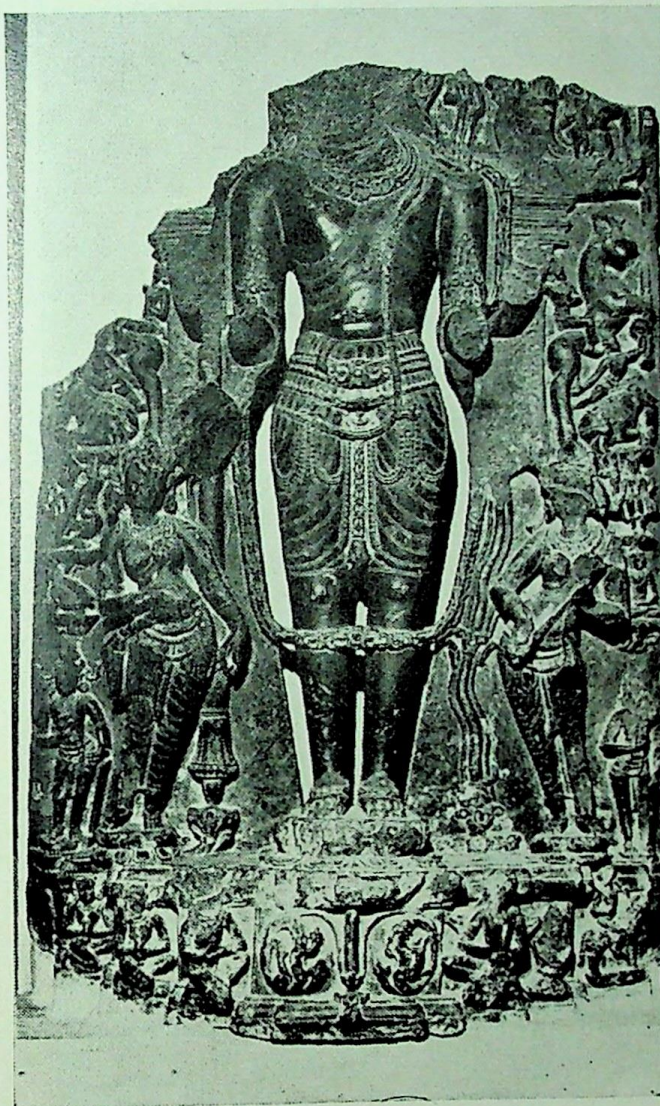
H. 107 Viṣṇu with daśavatāras.
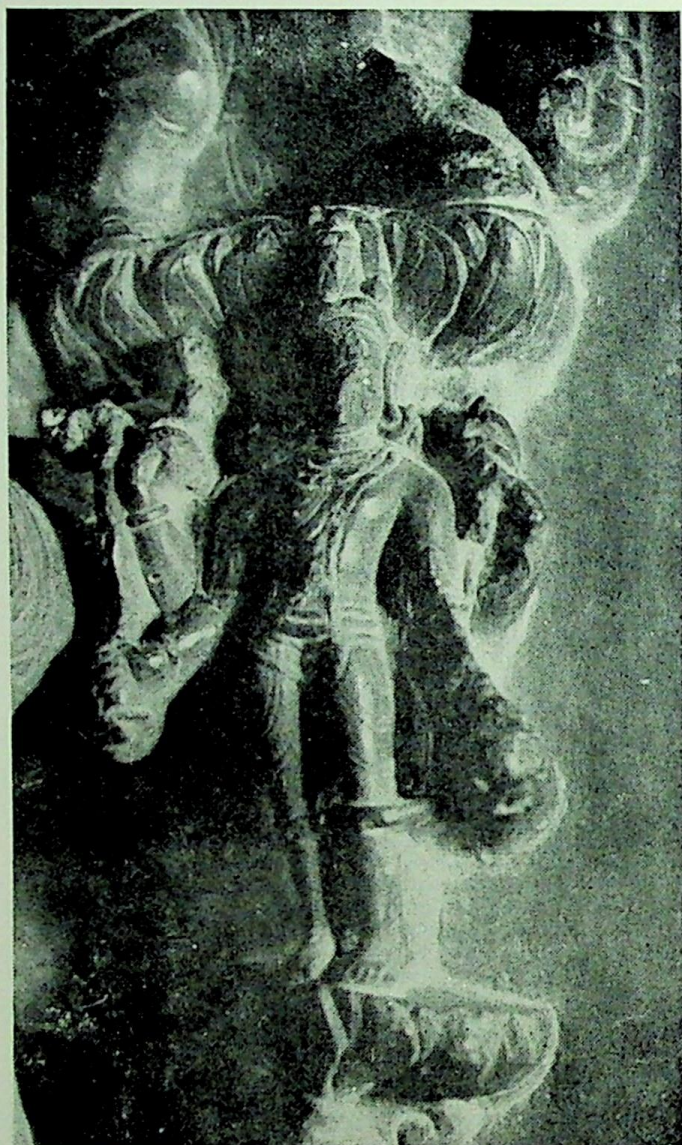
Details of Kṛṣṇāvatāra.

(1) The identity of Vāsudeva-Kṛṣṇa has been established with Viṣṇu from the epic times.[15] He was elevated to the supreme God. Garuḍārūḍha-Viṣṇu is none but Kṛṣṇa himself.[16] In Mahābhārata[17] Yudhisṭhara eulogized Kṛṣṇa in the form of Viṣṇu. In the Bhīṣmaparva[18] of the same work Nārāyaṇa and Viṣṇu both were identified with Vāsudeva. Among the incarnations of Viṣṇa Kṛṣṇa was most popular and none receives more widespread worship than Kṛṣṇa.

(2) The names of twenty-four forms[19] of Viṣṇu are mostly synonymic of Kṛṣṇa and his kins. Their emblems are disc, mace, conch and lotus and only their placement in the hands matters. The name of Kṛṣṇa is also included and his emblems are the same.

(3) Kṛṣṇa's iconography is not given in the iconographic texts in the context of incarnations. It can be established on the basis of icons found so far. On one panel[20] depicting Bhīma-Jarāsandha fight Kṛṣṇa is shown with disc, conch and mace while normal right hand is held Akimbo. On the mutilated panel[21] of Deogarh (Dist. Lalitpur) Kṛṣṇa is shown alongwith Arjuna holding the same emblems. In another image[22] of Kṛṣṇa-Balarāma-Ekānanśā preserved in the Lucknow Museum two emblems mace and lotus are still extant and rest two hands are badly mutilated. In the Rani Mahal collection, Jhansi an image[23] of Kavalayāpīḍavadha depicts Kṛṣṇa holding śankha, çakra, gadā in the hands. Kṛṣṇa shown on the images[24] of Tīrthankara Neminātha carries the same emblems. It is interesting to note that the figure of Kṛṣṇavatāra shown on the Pāla sculpture[25] (Fig. 1) held the emblems in the way as allotted to Viṣṇu under Çaturvinśatimurti.

(4) On some icons[26] of so called Viṣṇu another small figure of Viṣṇu is made either on the top or in corner. It is just to complete the Brahmanical Trinity (Brahmatrayī). This is not deliberately made a duplication by artist but the principal image represents Vāsudeva-Kṛṣṇa.

If this surmise could arouse the interest of scholars, Viṣṇu images would require a fresh study.

REFERENCES

1. Bhagvadgītā 4, 7-8.
2. Ramāyaṇa 117, 5, 12-31, Mahābhārata, Śānti Parva 339, 103-4.
3. Viṣṇu Purāṇa 3-17-10.
4. Vāyu Purāṇa 98.71-117.
5. Padma Purāṇa 5.230-252.
6. Skanda Purāṇa, Vaisnava Khanda 18. 16-45.

7. Brahma Purāṇa 180. 18-42, 213. 1-43.
8. Agni Purāṇa 49. 1-9.
9. Viṣṇudharmottara 3.85.
10. Matsya Purāṇa 47. 234.50.
11. Joshi, N. P., Catalogue of the Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow (part 1) p. 119.
12. Lucknow Museum No. H. 107 Bhattasali did not find a single example of Kṛṣṇāvatāra while dealing with Pāla sculptures. He said that Kṛṣṇa is nowhere accepted as incarnation in Bengal. Bhattasali, N. K., Iconography of Buddhist and Brahmanical Sculptures in the Dacca Museum, p. 97.
13. Lucknow Museum No. 0. 84.
14. Dr. Joshi holds the identical view about Kuṣāṇa and Gupta images of Viṣṇu. Joshi, N. P. Prāchīna Bhāratīya Mūrti Vijyāna p. 104.
15. Bhandarkar, R. G., Vaisnavism, Saivism and minor religious systems, p. 34
16. तं वव्रे वाहनं कृष्णेगरूत्मन्तं महावलं ।
    ध्वज चक्रे भगवानुपरि स्थास्यसीतितम् ।। महाभारत १, २९, १६ ।
    In Osia temple Balarāma is shown on one panel and on the other corresponding figure is Kṛṣṇa holding the same emblems as of Viṣṇu and riding on Garuḍa. This information was kindly given by Sri R. C. Agrawala, Director, Museums and Archaeology, Rajasthan, Jaipur.
17. *Mahābhārata*, *Santiparvan* (Chap. 43) quoted by Bhandarkar, Vaisnavism, Saivism and minor religious systems, p. 35.
18. Ibid p. 34.
19. Bidyabinod, B. B., M. A. S. I. No. 2 pp. 23-33, Awasthi R. A., Khajuraho Ki Deva Pratimanyen, p. 88.
20. Lucknow Museum No. H. 88
21. Hartel Herbert, Indische Skulpturan 1, pls. 33-35.
22. Lucknow Museum No. G. 58.
23. Rani Mahal collection Jhansi, No. 133.
24. Lucknow Museum No. 66. 53 Mathurā Museum No. D. 7.
25. Lucknow Museum No. H. 107
26. Government Museum Jhansi No. 79. 16.

EARLY INSCRIPTIONAL REFERENCES TO RĀDHĀ

S. P. Tewari

The name of Rādhā, as per belief and also general knowledge of an average devotee even to-day, is found inseparably linked with that of Kṛṣṇa. It may not be exaggerating the truth if we say that there are believers who hardly know about *Rukmiṇi*, *Satyabhāmā* or *Jāmbavatī*, but they know and believe in almost every episode of *Rādhā-ramaṇa*, *Rādhā-Kṛṣṇa* or *Rādhā-vallabha*. *Rādhā* is usually mentioned as a prominent *gopi* of Gokula attached to Kṛṣṇa and her character and the association with Kṛṣṇa is depicted variously in literature. She is sometimes referred to simply as a regular wife of Kṛṣṇa; at other times as a young lady married to an indistinct cowherd (*gopa-vanitā*) but intensely enamoured of Kṛṣṇa who, though, then a child or small boy, used to mysteriously transform himself into a young lover and have amarous indulgence with her, even to the extent of quenching her sexual lust; sometimes as an intelligent guide of Kṛṣṇa in worldly affairs; at other times as an ardent devotee pining for supreme contact or union with Kṛṣṇa; and so forth. A rational justification or spiritual interpretation of their mutual attachment is offered almost unfailingly and it is also usually emphasized that the apparently inconsistent element in their love-episode is not real and as such does not hamper their true divine roles or missions.

May be whatever it may, but the name of Rādhā, in the centuries succeeding the '*Gita-govinda*' of Jayadeva, acts like a central theme of Kṛṣṇaism around which revolves the activity of plastic art, painting, dance-drama and poetry, almost everything. It adds a real prosperity, wealth, bounty or success (cp. the Vedic etymology of the word *Rādhā*)[1] to the cult of Kṛṣṇa and no wonder that the Hindī poets of the later date made it a moto to praise the love-episodes of Kṛṣṇa and Rādhā for achieving both the ends of their lives (cp. *āge ke sukavi rijhihain tau hoihai kavitāī na tu Rādhikā Kanhāi sumirana ko bahāno hai*).

Dr. S. P. TEWARI, Dy. Superintendent Epigraphist, Office of the Chief Epigraphist, Archaeological Survey of India, MYSORE.

Inspite of such an inseparable identity of Rādhā with Kṛṣṇa, what puzzles an expert and may surprise a lay devotee of the faith is that she makes her appearance in literature at a comparatively late stage. The works like *Viṣṇupurāṇa*, *Harivaṁśa* or the *Bhāgavata* which purport to deal with the Kṛṣṇa legend at full length in all its details and do due justice to the *gopīs* in general are absolutely quiet about the name of Rādhā. This 'unexpected factor' remarks Prof. Katre[2] 'forces one to conclude that Rādhā was unknown to the composers of these works', and it is this very absence of the name of *Rādhā*, in the above works, which led the scholars like D. N. Apte and C. V. Vaidya[3] to sum up that Rādhā made her first literary appearance by the end of the 12th century through the *Gita-govinda* of Jayadeva, because even the *Purāṇas* and the *Upa-purānas* like *Padma*, *Brahma-vaivarta*, *Varāha*, *Linga* and the *Devī-bhāgavata* which do mention her, are considered as pretty late[4]. This hypothesis of Vaidya and others has been promptly refuted by Prof. Katre who provides ample evidences about Rādhā from the literary texts like the *Gāthā-saptāśati* of *Hāla*[5], *Pança-tantra* of Vishnuśarman[6], Veṇīsaṁhāra of *Bhaṭṭa Nārāyaṇa*[7], *Dhvanyāloka* of *Anandavardhana*[8], *Kāvya-mimānsā* of Rajasekhara[9], *Nala champū* of Trivikrama, *Yaśastilaka champū* of Somadeva[10], *Vakrokti jivita* of *Kuntala*[11], *Sarasvati Kaṁṭhābharaṇa* of Bhoja[12], *Kāvyānuśāsana* of Hemachandra, *Naishadha-charita* and the *Aryā* sapta-śati etc. which all belong to the period prior to the composition of *Gītagovinda*.

Apart from the fact that a lot of work has been done on *Viṣṇu*, Vaiṣnavism and the various manifestations of *Viṣṇu Kṛṣṇa*[13], probably prior to the learned discourse of Prof. Katre, no serious attempt had been made to look into the antiquity of the association of Rādhā with Kṛṣṇa. More deplorable in this regard is the plight of those who have worked on miniature paintings, etc., which invariably deal with the picturization of rooms regarding the love-episodes of Rādhā and Kṛṣṇa. It is not our aim to go into details here, nor to minimise the praiseworthy works of the scholars in this field. We also do not aim to prevail on literary sources and the citations therefrom which are provided more than enough by Katre. What we aim here is to provide a little more authenticity to the views of Katre from the field of Epigraphy by discussing the two important mentions of Rādhā in this field which have somehow not only escaped the attention of Prof. Katre but many other pioneers from the field of Epigraphy as well.

Out of these two references from the inscriptions, the one which is later in date was brought to the notice of scholars earlier, whereas the one which may be considered as earlier in date came to light almost after a quarter of a century later. Besides this the record which is later is clearly dated whereas the earlier one is dated partly on the basis of an incomplete[14] text and partly on the style of its writing. It is therefore, we proceed first with the evidence which is of an absolutely certain date then the one which is of less certain a date[15].

The first epigraphical evidence which came to the notice of scholars even earlier than the year 1877, is the copper plate inscription of Vakpatirāja Munja of Dhāra of the Vikrama Saṁvat 1031, i.e., A.D. 974[16]; where *'Rādhā virahātura' Kṛṣṇa* is specifically mentioned in the second invocatory verse of the record. Further on the same verse also appears in other inscriptions of varying dates like V. S. 1036 and 1046 (i.e. A.D. 980 and 986 respectively) of the same king, which passed through the keen eyes of editors like Dr. Rajendra Lal Mitra[17], Prof. Kielhorn[18], Dr. F. E. Hall[19] and Rao Bahadur K. N. Dikshit[20]. With all the due regard and the gratitude we owe to the above mentioned pioneers what most humbly we wish to infer is that somehow or the other, the mention of Rādhā's name in this verse, escaped their attention as even at a later date, it happened with Prof. Katre. The relevent verse which has not been noticed in its right perspective so far is as follows:

Yal-Lakshmī-vadanendunā na sukhitam yannā-
ārdritaṁ-vāridher-
vvārā yanna-nijena nābhi sarasī padmena
śāntiṁ gataṁ
yach-chheshāhi phaṇā sahasra-madhurā-śvāsairnna
chā-ā śvāsitaṁ
Tad-*Rādhā*-virahāturaṁ Mura-ripor-vvellad-vapuḥ pātu vaḥ[21].

Mr. Kirtane has translated the verse as follows :

"May the active body of the enemy of Mura (Kṛṣṇa) which the moon-faced Lakshmī could not cool; which the lotus of the lake of his own navel was powerless to pacify; and which could not be soothed by the fragrant breath issuing from the thousand mouths of Śesha: that body of Kṛṣṇa so heated by Rādhā's separation protect you".

If considered as a piece of literature or even as a natural truth where *viraha* (the separation) or the cause of *viyoga* follows *samāgama* (the state of union and love) the associations of Rādhā and her love episodes with Kṛṣṇa should go much earlier than the actual date of the inscription. In other words since the mention of Rādhā in the record is made in a very particular way and not in a generalized manner by calling her either *gopi* or a *gopa-vanitā*, etc., it also speaks for an established feature of the Kṛṣṇa legend. Needless to say that the description of Kṛṣṇa in the verse is in full accordance with the *gopa-veśasya Viṣṇoḥ* of Kālidasa[22].

The other record which makes a mention of *Rādhā* along with *Gokula* and some details of Vaishṇavite leanings, hails from the area of *Maṇḍor*[23] and preserved now in the Jodhpur Museum of Rājasthān. It was recovered along with the fifteen other inscribed fragments of a slab in the course of excavations there, in the years 1909 and 1910[24]. In

the concerned Annual Report of the Survey, Pandit Daya Ram Sahni has given the summary of the relevant fragment of the record. As per him 'the first four verses were devoted to the praise of Viṣṇu and alluded to his sport with the herds women, and to his *Vāmana*, *Varāha* and *Nṛsiṁha* incarnations[25]! Unfortunately here also the name of *Rādhā* escaped the attention of the late Pandit, though the record as it is, refers to the name of *Rādhā* in no uncertain terms[26].

After a gap of roughly four decades and little more Mr. R. C. Agrawala paid attention to this record once more and thankfully also produced the readings of the relevent lines of the record where the name of Rādhā appears[27], though without mentioning a word extra about the important mention of Rādhā in the record. Dr. P. Banerji, has however removed this lacuna in one of his foot-notes[28].

The text of the relevent lines of the record, as available with the office of the Chief Epigraphist, Archaeological Survey of India is as follows :

1. ..nijanyaṁ janakastathācha-yobijaṁ Jalaja Virājīta nabhir-jjana[29]
2. ..gopī gírau Gokule (1*) śrutvā Rādhikayā svabhūshaṇa vidhiḥ kṛitaḥ pā (tu vaḥ)[30].

The early 9th century date as rightly suggested by Sahni, of the record bearing a mention of *Rādhā* makes it really important. *Śaureḥ*[31] of the record is no doubt Kṛṣṇa, whereas *Gokula* is the place, but in what way this *svabhūṣaṇa vidhiḥ* was intended is not very clear as the rest of the text is gone. Out of this fragmentary but relevent *pāda* of a verse from the record what we can infer with certainty is that the act of *svabhūṣaṇa vidhiḥ* etc. ; either of *Rādhā* or Kṛṣṇa (the *Sauriḥ*) was not with idea of separation, but more in the light of love and sportive union(*līlā-saṅgama*).

Thus, from the two verses referred to above one belonging to c. 8th-9th century and the other from the 10th century, we see that the love-episodes of *Rādhā* and Kṛṣṇa along with their themes of *saṅyoga* and *viyoga* both, were well known facts to the devotees of Kṛṣṇa in the North. Here our particular emphasis on the North, is noteworthy for the reason that, it is not only in the sphere of the Purāṇas like Bhāgavata, etc. or the literature that the name of *Rādhā* is absent[32] but also in the field of epigraphical literature her name is somehow not popular in the South. This curious fact as gathered from the survey of literature and epigraphs both leads us to sum up as follows :

1. That the name of *Rādhā* in all likelihood is a contribution to the Kṛṣṇa legend from North India, while the texts of the Bhāgavata, etc., which favour the cult of *Rukmiṇī* and *Satyabhāmā*, more than that of *Rādhā* appear to have been originally composed in the South[33].

2. That the *Rādhā*-Kṛṣṇa love-episodes were echoed in the literature and the

epigraphs of North India even prior to the composition of Bhāgavata, etc. and the absence of the name of *Rādhā* in these texts, means only that probably the influence of this North-Indian legend did not reach the South at that early stage.

3. That, in the light of the above facts, the common dating of the Bhāgavata Purāṇa to 10th or 9th century A. D. deserves to be looked into afresh.

Before closing the discussions, it may not be out of place to remember one of the verses from the Chitorgadh Inscription of Mokala of Mewad[34], which enumerates all the chief consorts of Kṛṣṇa within the figure of *Vininhuti* :

Kālindi taṭa-kunja baddha vasatiḥ seyaṁ priyā Rādhikā
Smartavyaṁ nanu Rukmiṇī na bhavatī huṅ chāruhāsinyasi yuktaṁ nā(si)
Kalāvatī su-viditaṁ tvaṁ Satyabhāmentathā
Noktāsīti Vininhutokta muditas-slesho-Achyutaḥ pātuvaḥ

NOTES AND REFERENCES

1. J. Gonda : Aspects of early Vishṇuism, p. 163, f.n. 34; also Bh. Krishna Sastri : The Bhakti cult in Ancient India, p. 105, etc.
2. Prof. S. L. Katre : Krishṇa, Gopas, Gopis and *Rādhā* vide P. K. Gode Commemoration Volume p. 85.
3. *J. B. B. R. A. S.*, I.
4. *Op. cit.*, pp. 85-86.
5. N. S. P. edition, 1933, p. 33 where Hāla (c. 1st century A. D. according to old tradition, at any rate earlier 7th century A.D.) cites as 1.89 a verse by *Poṭṭisa.*
6. N. S. P. edition, 1950, p. 54. The text is supposed to belong C. 500 A.D. or earlier.
7. 1.2. The time of the drama is supposed to be C. 800 A.D. or so.
8. N. S. P. edition, 1935: (i) *Vṛitti* on 2.6; p. 93. Anandavardhana is placed somewhere between C. 860 to 890 A.D.
9. G. O. S. edition, 1934; Chap. 13. P. 71. Rajesekhara's period falls between C. 880 and 920 A.D.
10. N. S. P. edition, 1903; Vol. II, Chap. 4, p. 141 f. Time of Somadeva is 959 A.D.
11. Prof. S. K. De's edition (2nd) 1928 where Kuntala (C. 950-1000 A.D.) cites a verse as an illustration in the *svopajna vṛitti* on 2.16, p. 106.
12. N. S. P. edition, 1934; (i) Chap. 2, illustration 294; p. 275. Bhoja's time is considered between 1005 A.D. to 1054 A.D.
13. For the bibliography on these themes which is presented in order of sequence, please see the Aspect of early Vishnuism by Gonda, Utrecht, 1954,

14. A. S. I. A. R. 1909-10, p. 100.
15. The relevent record which forms one of the sixteen inscribed fragments obtained in the course of excavations at Maṇḍor (Ibid., p. 100, No. 3) provides a date in its line 12, out of which only the text of *Vatsarāṇāṁ nava* remains, the rest being lost. It is this reading which is relied upon for the dating of this piece as well as the piece which contains a reference to *Rādhā*. For want of further letters of the text (not the digits as mentioned by Sahni) from this line of '*Vatsarāṇāṁ nava*' it is difficult to accept it as an obsolutely certain a date, as the rest of the line may also have been as *nava navatyadhika nava*(?) *śateshu* i.e. 999 V. S. making the date as 942 A. D. This is what we call as an uncertain date.
16. Indian Antiquary, Vol. VI, p. 51 ff.; published in 1877; edited by Nilakantha Jahardan Kartane with the comments and the translations, etc.
17. Jr. Bengal Asiatic Society, Vol. XIX, p. 475 with the comments and translations.
18. Indian Antiquary, Vol. XIV, pp. 159-61, along with the translation and comments.
19. Jr. Bengal Asiatic Society, Vol. XXX, pp., 195-210, with the translations and comments.
20. Ep. Ind., Vol. XXIII, pp. 108-13, Ganorī Copper Plates of Vakpati Munja, V. S. 1038 and V. S. 1043.
21. Indian Antiquary, Vol. VI, p. 51.
22. Meghadūtam.
23. For the history and other details about Maṇḍor see A. S. I. A. R., 1905-06 and Ep. Ind., Vol. IX, p. 280, 1.13.
24. A. S. I. A. R., 1909-10, pp. 100-101.
25. Ibid., pp. 100-101.
26. See Annual Report on Indian Epigraphy for the year 1966-67. No. B. 400; p. 86.
27. Proc. of the Indian History Congress (1964), Ahmedabad, 1966, pp. 162-65.
28. The Life of Krishṇa in Indian Art, p. 12, f.n. 5; National Museum, New Delhi, 1978.
29. Probably mentioning *Jalaja-nābhi* or *Padma-nābha.*
30. From *srutrā Rādhikayā* upto *kṛitah* pā (tavah) it forms the last *pāda* of a *Sārdūla-vikrīdita*. The reading as given by Mr. Agrawala (op. cit. p. 163, No. 3) after *kṛitaḥ* as pāṇinānganạ is not supported by the record at all and also goes against the metre. After the letter *pa* in the record, dim traces of *ta* make it more possible to restore it as *pātu vaḥ*. For the reading and also the suggestions I am grateful to my senior colleague Dr. K. V. Ramesh, Superintending Epigraphist, Archaeological Survey of India, Mysore,

Ill. I. Ganori Copper Plate Inscription of Vākpati Munja, V. S. 1038.

Ill. II. Frag. Stone Inscription from Mandor, Distt. Jodhpur (Rājasthān)

31. See Vishṇusahasranāma (50) as *Kālinemi nihā Vīraḥ Sauriḥ Sūra Jamēswaraḥ* and the commentary of Sankarachārya therein.
32. See S. L. Katre, op. cit., p. 87.
33. A possibility which has been rightly suggested by Katre (op. cit., p. 87). A particular reference to *Rukmāṇi* in a Pallava record (Vide A. R. on Indian Epigraphy for the year 1969-70, No. B. 311) as *Uruppiṇī* also bears the same truth. I am grateful to my colleague Dr. G. R. Srinivasan for this information.
34. Ep. Ind., Vol. II, p. 410-81, Verse 4.

RĀDHĀ IN GITAGOVINDA

पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम् ।
त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम् ॥
नाथ हरे, सीदति राधाऽऽवासगृहे ॥
त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती ।
पतति पदानि कियन्ति चलन्ती ॥
विहितविशदबिसकिसलयवलया ।
जीवति परमिह तव रतिकलया ॥

....
....

किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभवने भांडीरभूमीकहि
भ्रातर्यासि न दृष्टिगोचरमितः सानन्दनन्दास्पदम् ।
राधाया वचनं तदध्वगमुखान्नन्दान्तिके गोपतो
गोविन्दस्य जयन्ति सायमतिथिप्राशस्त्यगर्भा गिरः ।

KṚṢṆA AND KṚṢṆAISM ACROSS INDIA

B. N. Puri

The Kṛṣṇa saga is confined not to Indian art and literature alone; it could be traced to sources outside India testifying to its popularity in those regions. The earliest reference to Kṛṣṇa in India is recorded in the *Chāndogya Upaniṣad*[1], supposed to be a pre-Buddhist work, mentioning the sage Kṛṣṇa–Devakī–putra (i.e. Kṛṣṇa, son of Devakī) who was a disciple of the Ṛṣi Ghora of the Aṅgirasa family. Kṛṣṇa is not called Vāsudeva in this work, and some scholars doubt the identity of the Kṛṣṇa-Devakīputra of the above mentioned Upaniṣad with Kṛṣṇa, son of Vāsudeva by Devakī of the Yādava-Sāttvata-Vṛṣṇi race; as noticed in the Mahābhārata, especially in its early stratum[2], and the Purāṇas as well as in works like Ghaṭa Jātaka and Patāñjali's Mahābhāṣya. The evidence provided by the *magnum opus* of Patañjali is conclusive on the point of identity of Kṛṣṇa-Vāsudeva. It associates Śaṅkara-Śaṅkarṣaṇa (Baladeva, son of Vāsudeva by Rohiṇī) in such passages as *Śaṅkarṣanadvitiyāsyabalam Kṛṣṇasya vardhataṁ,* as also in his reference to popular dramatic representation of the life story of Vasudeva-Kṛṣṇa with reference to Bāli-bandha and Kaṇsabadha episodes. He actually quotes passages like *asadhur matula Kṛṣṇa* and *jaghāna kaṅsaṁ kilavāsudevaḥ.* These references are quoted here to suggest of Kṛṣṇa-Vāsudeva and the popularity of his cult in northern India in the time of Patāñjali, roughly in the middle or the last quarter of the second century B. C.[3]

The external evidence on the Kṛṣṇa cult seems to be still earlier. Vāsudeva or Kṛṣṇa is mentioned by the Greek writers Megasthenes and Arrian under the name of Heracles[4]. The Greek ambassador to the Mauryan court informs us that Heracles was worshipped by inhabitants of the planes, especially by the Surasenoi, an Indian tribe, and possessed of two cities, Methora (Mathurā) and Kleisbora (Kṛṣṇapura) with a large navigable river, Jabanes (Yamunā) flowing through their territories. The famous

---

Dr. B. N. PURI, Retired Prof. & Head of Department of Ancient Indian History & Archaeology, Lucknow University.

Besnagar inscription of Heliodora[5] of the late Śuṅga period equally testifies to the prevalence of Bhāgavatism at that time and its acceptance even by the foreigners. This Greek who came as an ambassador from the court of the Indo-Greek ruler Antialkidas to that of Bhāgabhadra could not have been ignoramous about the Kṛṣṇa-Bhāgavata cult in North-western India. While Aśoka had sent his emissaries to propagate his ideals of *dhamma* to the countries of his yavana contemporaries, it is equally likely that the Bhāgavatas, too, were not slow in their missionary activities.

In this connection reference might be made to the prevalence of Kṛṣṇa cult in the territories of the Armenians. According to Zenola[6], two Indian rulers Gisena (Kisena-Kṛṣṇa) and Dimeter had sought shelter in the court of the Armenian ruler Balaraksa roughly about 150 B. C. Fifteen years later they were murdered. Their descendants got two temples of their deity—Gisena—probably Kṛṣṇa and Dimeter constructed over there. It was suggested by Kennedy[7] that Demeter stands for Devamitra and Kisana could be identified with Kṛṣṇa. It is likely that the deity associated with Kṛṣṇa called Demeter might be Baladeva. It is proposed by P. Banerji that the story of the flight of Gisana and Devamitra might be reminiscent of Kṛṣṇa and Balarāma's flight to Dvārikā from Mathurā because of the pressure of their adversaries, and this story possibly went outside and got mixed up with a local legend in Armenia.

Some more information about the existence and prevalence of Vaiṣṇavism across the Himālayas is furnished by some latest discoveries. A fragment of Kharoṣṭhi inscription discovered by Berustham[8] in Tajikistan in 1956 mentions 'Nārāyaṇa be victorious' as translated by Harmata. On palaeographic grounds the inscription might be placed in the second century B. C. If Nārāyaṇa could be associated with Vaiṣṇavism, as is not unlikely, then the popularity and prevalence of Vaiṣṇava cult in Central Asia in the second century B. C. stands confirmed. Nārāyaṇa also occurs on a Garuḍa in a Tun-huang[9] painting. There is also an interesting seal first noticed by Cunningham which bears an inscription, correctly deciphered by Ghirshman[10] as referring to the names of Mittra, Viṣṇu and Śiva. This is in Tucharian script and the devotee, according to the French archaeologist, is not the Kuṣāṇa king Huviṣka but some unknown Hepthalite chief. Further Vaiṣṇava influence is also noticeable in a Buddha image from Bala waste on the silk route of Eastern Turkestan. Here the artist has tried to depict the viśvarūpa aspect of the Buddha on the model of the viśvarūpa of Kṛṣṇa[11].

Besides Central Asia, Kṛṣṇa and Kṛṣṇavism were well known in South-East Asia, as is evident from the famous Hindu monuments from Champā (modern Vietnam), Kambuja (modern Kampuchia) and Jāvā (modern Indonesia)[12]. Inscriptions and sculptural pieces, as also religious and secular literature equally provide valuable information which might be presented chronologically in an analytical manner, Jāvā—especially the

temples from Panamtaran, and the famous sculptures and statues from Eastern Jāvā, provide interesting information about Vaiṣṇavism in general and Viṣṇu in different incarnation, the divine conception of Viṣṇu was well known in Indonesia from fairly early times. The earliest figure of Viṣṇu is in gold, a small four-armed figure holding a discus, conch shell, and mace in three hands, while the fourth one is in varadamudrā. It was recovered from Mura Kaman in the Kutei province of Borneo. One of the inscriptions of Pūrṇavarman, the ruler of Taroma in western Jāvā (C. A. D. 450) refers to the foot prints of Viṣṇu (*Tarumanagendrasya visnor-iva padabhyam*)[13]. The famous Changal inscription[14] dated in the Śaka year 654 also eulogizes Viṣṇu, living in a bed of water with the goddess Srī, his eyes like those of lotus petals through meditation, and praised by the gods for protecting them. This typical description of Viṣṇu in his *ananta-śayana* posture was well known in the eight century A. D. as is evident from the sculptural finds in Java as well as in Kāmbuja and Champā.

Both the artists and the authors seem to have been cognizant of tne different incarnations of Viṣṇu-Rāma (from Ramāyaṇa), Kṛṣṇa from Kṛṣṇāyana, the Man-lion (Nṛsiṃha), Boar (varāha), Fish (matsya) and Tortoise[15] (Kurma). Of these the first four are beautifully depicted by the artists in sculptures and statues carved in stone. Sometimes there are two female figurines on two sides of the divinity, generally known as Laksmī and Satavana (Satyabhāmā) in Bāli[16]. The divinity might be Kṛṣṇa with his consorts Rukmiṇī and Satyabhāmā. In the temples in the Premban valley two images represent the vāmana or dwarf and Nṛsiṁha incarnations of the deity[17]. The sculptures on the inner side of the balustrade of the Viṣṇu temple depict episodes from the life of Kṛṣṇa. The incarnation of Viṣṇu as Kṛṣṇa and the episode connected with his life are also noticed in Indonesian art and literatnre. The Kṛṣṇāyana by Triguna (dated in the beginning of the Kadiri period)[18] deals with the famous episode of the abduction of Rukminī by Kṛṣṇa and his subsequent fight with Jarāsandha. This poem supplied the themes for the sculptural relief in the temple of Panamtaran. Other works that provided the theme of the Kṛṣṇa legend are *Harivaṃśa* by Mpu Panuluh who also wrote and completed *Bharatayuddha* during the reign of Jayabhaya. The death of Kṛṣṇa and the destruction of his family forms the theme of Kakawin's *Kṛṣṇāntaka*.

Kṛṣṇa's story in art is best illustrated at Chandi Jago[19]. The lower part of the temple is decorated with scenes from Kṛṣṇāyana while at Chandi Kedaon some of relics illustrate scenes from the story of Sambas, as told in the *Bhorukaya*. At Chandi Panataram[20], Kṛṣṇa is seen eloping with Rukmiṇī followed by her brother Rukma. The artists were familiar with the life activities of Kṛṣṇa, since we find Triguna in his *Kṛṣṇāyana* recording his episode of the abduction of Rukmiṇī and his consequent fight with Jaāsandha. The poem contains a description of Dvārāvatī, the capital of Kṛṣṇa,

and gives the name of 10 out of his 16,000 wives. This is the theme of sculptured reliefs of the temple of Pantaram[21]. The same episode is also recorded in another poetical work *Harivaṃśa* by Mpu Panuluh in the reign of Jayabhaya. Scenes from *Kālayavanāntaka*—based on the story given in the Viṣṇu Purāṇa—are also depicted on the inner-side of the balustrade in the Viṣṇu temple in the Premban valley[22]. This refers to the invasion of Dvārkā by Kālayavana to avenge the death of Kaṃsa.

We need not refer to the statues of Viṣṇu including that of Viṣṇu Airlanga from Bethan now in the Djakarta Museum, sitting on a Garuḍa with his two consorts Lakṣmī and Śrī signifying fertility and wealth, as also of other statues of this god from Indonesia or from Indo-China. The scenes from Angkorvat depict Kṛṣṇa holding Govardhana. The Kambiya records also mention the setting up of statues of Viṣṇu and some also refer to the activities of Kṛṣṇa[23]. An inscription from Champā[24] also records the activities of Kṛṣṇa, lifting the Govardhana and destroying the demons and accomplices of Kaṇsa. Some of the rulers like Jaya Harivarman of Champā, called themselves the incarnation of Viṣṇu.

A study of the data available from different sources would no doubt reveal the prevalence, popularity and worship of Viṣṇu in different incarnations in south-east Asia. Literature and Art suggest the assimilation and familiarity of Vaiṣṇavite ideals and practices, and icons of divinities connected with this cult. It would appear that Kṛṣṇa saga the life story of the cow-herd boy-was well known, especially the destruction of Kaṇsa, and his entourage, the lifting of Govardhana, the abduction of of Subhadrā, association with the Pandavas and participation in the Bharata war, the flight to Dvārakā and attempts to sack it and finally his death. These formed the subject matter of literary and artistic creative activities, which lasted for well over a thousand years.

REFERENCES

1. III.17.6.
2. I.41.
3. IV.3.98. For reference to Bhaktism—Bhāgavata cult, see my 'India in the time of Patanjali' pp. 171 ff from where the references are quoted here.
4. Frag. XLI. See also Śastrī—Age of the Nandas and Mauryas, p. 305. He also quotes Curtius who informs us that 'an image of Heracles was carried in front of the enemy of Porus as he advanced against Alexander, p. 305.
5. Luder's List No. 669.
6. JRAS. 1904 pp. 310ff quoted by Priyatōsh Banerji in his paper 'Hindu Deities in Central Asia' published in the Vivekanand Commemorated volume, pp. 281 ff.
7. ibid.

8. Litvinsky : *Outline of History of Buddhism in Central Asia*, p. 8. Harmata's long paper appears in *Acta Orientalia* Hungary.
9. Arthur Waley : A Catalogue of Paintings recovered from Tun-huang (1931) p. 54.
10. *Les Chionites Hepthalites*. pp. 55-58, cf. Banerji : *Hindu Iconography*, pp. 124-5.
11. The body and the arms of the figure are covered with symbols or devices including the Śrīvatsa, diamonds, mandara as churning rod, horse Uccaihs' rava (indicative of the story of the churning of the ocean), the sun, the moon, vayras, manuscripts, triangles and circles. These symbols point to Vaiṣṇava or Kṛṣṇite influence on the Buddha model (Banerji : *Op. cit.*).
12. The information supplied is based on my paper 'Archaeology and Vaiṣṇava tradition in Indonesia' published in L. N. Misra Volume, pp. 154ff, as also my book in Hindi '*Sudur purva me Bharatiya Sanskriti aur Itihasa* (1963). See also R. C. Majumdar : *Suvarnadvipa*, Vol. II dealing with the cultural history and also Kempers : *Early Indonesian Art*.
13. Chatterji & Chakravartty : *India and Java*, Pt. II, p. 24.
14. ibid., p. 29.
15. Majumdar : *Op. cit.*, p. 104.
16. ibid.
17. ibid.
18. According to Coedes, in the reign of Jayavarsha Digjaya Sastaprabhu of whom an inscription is dated in the year 1104, Triguṇa composed the Kṛṣṇāyana, an epic poem relating to the legend of Kṛṣṇa, illustrated by the bas-reliefs of Chandi Jago and of Panamtaran (Etats Hindouis etc. p. 268).
19. Kempers : Op. cit, Pl. 159. The reliefs of the temple of Viṣṇu depict scenes from the youth of Kṛṣṇa, a favourite subject little known in Indonesian art and literature.
20. ibid. Pl. 283 ; cf. *Viṣṇu Purāṇa*, Bk. V. Chap. XXVI, p. 454 (1961 ed.)
21. Majumdar : Op. cit., p. 67.
22. ibid., pp. 224-266.
23. Majumdar : *Inscriptions of Kāmbujadesa*, no. 108, p. 252.
24. —Champa, No. 24, p. 59.

Viṣṇu, Mathura Museum

पुष्टिमार्ग के प्रमुख सेव्य स्वरूप

प्रभुदयाल मीतल

उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में जो बल्लभ वंशीय गोस्वामियों के मंदिर हैं, उनमें प्रतिष्ठित पुष्टिमार्गीय सेव्य स्वरूपों की संख्या १५० के लगभग है। इनमें से १३५ स्वरूपों का उल्लेख मथुरा के गो० रमणलाल जी ने गो० मुरलीधर जी तथा अपने पिता गो० पुरुषोत्तम जी के 'वचनामृत्तों' के आधार पर स्वरचित 'प्राचीन भगवत् स्वरूपों की वार्ता' नामक पुस्तिका में किया है।[1] ये स्वरूप भगवान कृष्ण की विविध लीलाओं के सूचक होने के कारण विभिन्न नामों से जाने जाते हैं, किन्तु वस्तुतः ये सभी एक मात्र कृष्ण के दिव्य विग्रह हैं, अतः साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इनमें कोई भिन्नता नहीं है। इन्हें सामान्य 'मूर्ति' न कह कर 'स्वरूप' कहा जाता है, क्योंकि पुष्टिमार्ग में इन्हें पारब्रह्म श्रीकृष्ण का साक्षात् स्वरूप माना गया है। इनकी प्रतिष्ठा भी प्राचीन वास्तु एवं मूर्ति विधान के अनुसार वेदोक्त पद्धति से न होकर पुष्टिमार्गीय आचार्यों द्वारा प्रचलित भावात्मक पद्धति से की जाती है। देवस्थानों में इनकी 'पूजा' न होकर 'सेवा' होती है, जिनके लिये 'शृंगार', 'भोग', और 'राग' की साम्प्रदायिक सेवा-विधि का अनुसरण करना आवश्यक होता है। 'पूजा' का अधिकार तो केवल द्विजों को है, किन्तु 'सेवा' के लिये वर्ण जाति, लिंग आदि का कोई बन्धन नहीं है; केवल श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति होना आवश्यक है।

पुष्टिमार्ग के बहुसंख्यक सेव्य स्यरूपों में से प्रमुख नौ स्वरूप हैं, जिन्हें 'नवनिधि' कहा जाता है। पुष्टिमार्ग के अनुयायियों के लिये इनसे अधिक मूल्यवान कोई वस्तु नहीं है, अतः इन्हें 'निधि' कहना सार्थक है।

विगत शताब्दियों की भीषण आपत्तियों में पुष्टिमार्गीय आचार्यों ने अपना सर्वस्व त्याग कर, यहां तक कि अपने प्राणों को भी संकट में डाल कर, इन स्वरूपों की रक्षा की। आरम्भ में ये सभी स्वरूप ब्रज के गोवर्धन एवं गोकुल नामक स्थानों में विराजमान थे। जब ब्रज मंडल में औरंगजेबी शासन की मजहबी तानाशाही का बोलबाला हुआ, तब इन्हें गोवर्धन एवं गोकुल के निजी मंदिरों से हटा कर गुप्त रीति से सुरक्षित स्थानों में ले जाया गया। इसके लिये तत्कालीन गोसाइंयों को विभिन्न स्थानों में भटकना पड़ा, तब

डॉ० प्रभुदयाल मीतल, मीतल निवास, ड़ैम्पियर नगर, मथुरा

कहीं वे इन्हें राजस्थान के कई राज्यों में मन्दिर बनवा कर प्रतिष्ठित कर सके थे। इनमें से अधिकांश सेव्य स्वरूप अभी तक व्रज मण्डल से बाहर के स्थानों में विराजमान हैं, जहाँ उनके कारण अभूतपूर्व धार्मिक एवं सांस्कृतिक समृद्धि हुई है।

पुष्टिमार्ग के इन प्रमुख सेव्य स्वरूपों के नाम इस प्रकार है—

१. श्री गोबर्धननाथ जी (श्रीनाथ जी)
२. श्री नवनीतप्रिय जी
३. श्री मथुरानाथ जी (श्रीमथुरेश जी)
४. श्री बिट्ठलनाथ जी
५. श्री द्वारकानाथ जी (श्री द्वारकाधीश जी)
६. श्री गोकुलनाथ जी
७. श्री गोकुलचंद्रमा जी
८. श्री बालकृष्ण जी (अथवा श्री कल्याणराय जी, या श्री मुकुन्दराय जी)
९. श्री मदनमोहन जी

श्री गोवर्धन नाथ जी के अतिरिक्त अन्य सभी स्वरूप आकार में छोटे हैं। इनका कलात्मक महत्व इतना नहीं है, जितना धार्मिक एवं ऐतिहासिक महत्व है। वास्तविक बात तो यह है कि पुष्टिमार्गीय भक्त जनों की दृष्टि इनकी कलात्मकता पर जाती ही नहीं। वे इन्हें भगवान कृष्ण का दिव्य विग्रह समझते हुए इनकी भक्ति–भावना में ही अपने मन को लगाये रहते हैं। इस प्रकार की मन:स्थिति वाले व्यक्तियों से उनके उपास्य स्वरूपों की कलात्मक समीक्षा किये जाने की आशा करना सर्वथा असंगत है।

ये सभी ९ स्वरूप पहले श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा और फिर श्री बिट्ठलनाथ जी द्वारा सेवित थे। जब गो० विट्ठलनाथ जी को अपने अंतकाल का आभास हुआ, तब उन्होंने इन स्वरूपों के साथ अपनी समस्त चल एवं अचल सम्पत्ति का बटवारा अपने सातों पुत्रों में कर दिया था। उन पुत्रों ने उक्त स्वरूपों की पृथक्-पृथक् सेवा करने की व्यवस्था की थी, जिसके कारण पुष्टि सम्प्रदाय के 'सप्त गृह' की परम्परा प्रचलित हुई। समस्त स्वरूपों में श्रीनाथ जी प्रधान है, और श्री नवनीतप्रिय जी सर्व श्री बल्लभाचार्य जी एवं बिट्ठलनाथ जी के निजी सेव्य स्वरूप होने के कारण प्रमुख माने गये हैं। अतएव इन दोनों सेव्य स्वरूपों की सेवा का सम्बन्ध सातों भाईयों से रखा गया, किन्तु उनकी साम्प्रदायिक व्यवस्था का अधिकार ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी के टीकैत घराने को ही सौंपा गया था। शेष सातों स्वरूपों का बटवारा सातों भाइयों में कर दिया गया था। उक्त बटवारे का काल 'सम्प्रदाय कल्पद्रुम' में सं० १६४० लिखा गया है। एक अनुश्रुति के अनुसार इसका समय सं० १६३५ भी मिलता है। बटवारा के उपरान्त सं० १६४२ की फाल्गुन कृ० ७ को श्री विट्ठलनाथ जी का तिरोधान हो गया था।

यहां पर पुष्टि मार्ग के इन ९ प्रमुख सेव्य स्वरूपों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है,—

१–श्री गोवर्धननाथ जी (श्रीनाथ जी)—ये वल्लभ सम्प्रदाय के सर्वोपरि सेव्य स्वरूप हैं। इनका प्राक्ट्य व्रज में गोबर्धन स्थित गिरिराज पहाड़ी की एक कंदरा से हुआ था। साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार इनकी ऊर्ध्व वाम भुजा का प्राक्ट्य सं० १४४६ में और मुखारविन्दु का सं० १५३५ की वैशाख कृ० ११ को

हुआ। उसी दिन चम्पारण्य (मध्य प्रदेश) के निर्जन वन में श्री वल्लभाचार्य भी अवतरित हुये थे। इसीलिये श्री आचार्य जी को भागवत् मुखारविन्द का स्वरूप भी कहा गया है। साम्प्रदायिक मान्यता है कि परब्रह्म कृष्ण अनवतार दशा में श्रीनाथ जी के रूप में व्रज में प्रकट हुये हैं। इन्हें भगवान कृष्ण की बाल्य-कैशोर अवस्था का प्रतीक माना गया है। श्री कृष्ण की तरह श्रीनाथ जी को भी गायें अत्यन्त प्रिय हैं, अतः इन्हें 'गोपालः' भी कहा जाता है।

श्रीनाथ जी के मुखारविन्द का प्राकट्य होने के कुछ समय व पश्चात् माध्व सम्प्रदाय के आचार्य श्री माधवेन्द्र पुरी का गोबर्धन आगमन हुआ था। उन्होंने गोपाल जी के नाम से श्रीनाथ जी की सेवा प्रचलित करने का उपक्रम किया, किन्तु सुल्तानी शासन के भीषण आतंक के कारण उन्हें सफलता नहीं मिली। कुछ समय पश्चात् वे व्रज से चले गये। बाद में श्री वल्लभाचार्य जी ने अपनी देशव्यापी द्वितीय यात्रा के अवसर पर सं० १५५६ में श्रीनाथ जी के स्वरूप को गिरिराज की कंदरा से बाहर निकलवाया; और उन्हें एक वृक्ष के नीचे विराजमान कर उनकी सेवा की आरम्भिक व्यवस्था की थी। उसी समय सद्दू पाण्डेय, रामदास चौहान और कुंभनदास प्रभृति अनेक व्रजवासी गण आचार्य जी के शिष्य-सेवक हुये थे।

जिस काल में श्री बल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी की सेवा का आयोजन किया, उस समय ब्रजमण्डल में दिल्ली के सुलतान सिकन्दर लोदी का दमन-चक्र बड़ी तेजी से चल रहा था उस तास्सुबी सुल्तान ने मूर्ति पूजा और मन्दिर निर्माण पर कड़ी पाबन्दी लगा दी थी; और पुराने मन्दिरों की मरम्मत कराने का भी निषेध कर दिया था। इस प्रकार तब व्रज में न तो कोई मूर्ति पूजा कर सकता था और न मन्दिर बनवा सकता था। श्री वल्लभाचार्य जी ने सिकन्दर लोदी के उन असहिष्णुता पूर्ण अमानवीय आदेशों की उपेक्षा कर व्रज-वासियों को कृष्णाश्रय का मंत्र देते हुये उनमें आत्मबल का संचार किया। उनके आदेशानुसार श्रीनाथ जी के स्वरूप को गिरिराज पहाड़ी पर एक छोटे से कच्चे मन्दिर में विराजमान किया गया। उन्हें मोर मुकुट और गुंजामाला का साधारण श्रृंगार साधारण कराया; और रामदास चौहान को उनकी सेवा करने के लिये नियुक्त किया। सद्दू पाण्डेय एवं अन्य व्रजवासी गण बड़ी श्रद्धा-भक्ति पूर्वक सेवा में सहयोग देते थे; और कुंभनदास कीर्तन करते थे। वह आरम्भिक व्यवस्था थी। बाद में श्रीनाथ जी का पक्का विशाल मन्दिर बनाया गया और उनकी सेवा का बड़ा विस्तार हुआ था इस प्रकार श्रीनाथ जी के रुप में भगवान श्रीकृष्ण की बाल-किशोर भाव की सेवा व्रज में प्रचलित हुई।

श्रीनाथ जी का स्वरूप एक चौकोर पीठक के सहारे खड़े हुये आकार का है। पीठक को गिरिराज का प्रतीक माना गया है, जिसके निकुंज द्वार पर श्रीनाथ जी खड़े हैं। इनका वर्ण श्याम है, और ये द्विभुजी हैं। इनकी वाम भुजा ऊपर उठी हुई है, और दक्षिण भुजा मुट्ठी बंधी हुई कमर पर टिकी है। दोनों चरण समतल हैं। नेत्र अर्धोन्मीलित हैं। वक्षस्थल पर बनमाला है। मुख पर स्मित हास्य है। मुखाकृति भक्त जनों को आकर्षित करती है।

पीठक पर विविध प्रकार की आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। इनमें सबसे ऊपर एक शुक (तोता) की आकृति है। शुक के दक्षिण ओर श्रीनाथ जी, वाम भुजा के आगे दो ध्यानस्थ मुनि हैं शुक की बायीं ओर एक तीसरा मुनि है। दक्षिण ओर के उभय मुनियों के नीचे सर्प है उसके नीचे सिंह,

और उनके नीचे दो मोर हैं। बांई ओर वाले मुनि के नीचे मेष एवं घंटा हैं, उनके नीचे सर्प है और फिर गाय है। सबके नीचे यमुना है। इस प्रकार पीठक पर ३ मुनि, १ तोता, २ मोर, २ सर्प तथा एक सिंह, मेष घंटा एवं गाय की आकृतियाँ हैं। इन सबके नीचे यमुना है। इनमें से गाय और यमुना का श्रीनाथ जी से सीधा सम्बन्ध है; किन्तु अन्य आकृतियों का, विशेषतः मेष और घंटा का उनसे क्या सम्बन्ध है, इसका स्पष्टीकरण करना कठिन है। एक बात स्पष्ट है कि कि मुनियों तथा इन पशु-पक्षियों का गिरिराज से निश्चित सम्बन्ध है और पीठक को गिरिराज का रूप बतलाया ही गया है। ऐसी स्थिति में इन आकृतियों के अभिप्राय का कुछ अनुमान किया जा सकता है; किन्तु इनका वास्तविक रहस्य एक पहेली बना हुआ है। साम्प्रदायिक ग्रंथों ने इन आकृतियों की व्याख्या करते हुये इन्हें श्रीनाथ जी एवं गिरिराज से सम्बन्धित बतलाया गया है। किन्तु पुष्टि सम्प्रदायी भक्त जनों से भिन्न व्यक्तियों को संतुष्ट करना सरल नहीं है।

श्रीनाथ जी के स्वरूप का प्रस्तुतीकरण किस काल में हुआ, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह निश्चित है कि इन्हें मुसलमानी शासन से पहले किसी भी समय प्रस्तुत किया गया होगा। जब सुल्तानों ने मूर्ति पूजा के विरुद्ध अभियान चलाया, तब सुरक्षा के लिये गिरिराज की कंदरा में छिपा दिया होगा। पर्याप्त समय तक कंदरा में छिपे रहने के उपरान्त सं० १५३५ में ये प्रकाश में आये; और फिर सं० १५५६ में श्री वल्लभाचार्य जी द्वारा कंदरा से इन्हें बाहर निकाला गया। सं० १५५६ से सं० १७२६ तक अर्थात् १७० वर्ष तक श्रीनाथ जी गोवर्धन में विराजे रहे, जहां उनकी सेवा बड़े समारोह पूर्वक होती रही। औरंगजेबी शासन की आतंकपूर्ण विषम-परिस्थिति में इन्हें गुप्त रूप से गोबर्धन से हटा कर मेवाड़ राज्य में पहुंचा दिया गया, जहां के श्रीनाथद्वारा नामक स्थान के मन्दिर में ये अभी तक विराजमान हैं। 'वार्ता' के अनुसार श्रीनाथ जी ने सं० १७२६ की आश्विन शु० १५ (शरद पूर्णिमा) शुक्रवार को गोबर्धन से प्रस्थान किया था।[२] ज्योतिष गणना से यह तिथि ठीक सिद्ध हुई है।[३] अतः इसकी प्रमाणिकता निर्विवाद है।

२—श्री नवनीतप्रिय जी—श्रीकृष्ण के इस बाल स्वरूप की प्राप्ति श्री वल्लभाचार्य जी को ब्रज के के महावन नामक स्थान में वहाँ की एक क्षत्राणी से हुई थी। 'वार्ता' से ज्ञात होता है उक्त क्षत्राणी को महावन के ब्रह्मांड घाट पर यमुना नदी से चार भगवत स्वरूप प्राप्त हुए थे, जिनमें से एक श्री नवनीतप्रिय जी का, दूसरा गोकुलचन्द्र जी का, और दो अन्य थे। जब वल्लभाचार्य जी देश व्यापी यात्रा करते हुये महावन पधारे, तब उस क्षत्राणी ने वे चारों स्वरूप उन्हें दे दिये थे। श्री आचार्य जी ने श्रीनवनीतप्रिय जी का स्वरूप अपने सेवक आगरा निवासी गज्जन धवन की प्रार्थना पर उसे सेवार्थ प्रदान किया। गज्जन धवन ने कुछ समय तक सेवा करने के उपरांत उक्त स्वरूप को श्री वल्लभाचार्य जी को ही सौंप दिया।[४] उसके उपरान्त ये स्वरूप सर्वश्री वल्लभाचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी के निजी ठाकुर के रूप में सेवित रहे। जब श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पुत्रों का बटवारा किया, तब श्रीनाथ जी के साथ श्री नवनीतप्रिय जी का सम्बन्ध भी सातों भाइयों के साथ रखा गया। औरंगजेबी शासन के संकट काल में इस स्वरूप को गोकुल से हटा कर मेवाड़ पहुंचा दिया गया था, वहां इन्हें श्रीनाथ जी के साथ रखा गया। इस समय भी वे उसी स्थल में विराजमान हैं।

श्री नवनीतप्रिय जी का स्वरूप गौर वर्ण का द्विभुजी है। इनके दक्षिण हस्त में नवनीत है, जो इनके

नाम को सार्थक करता है । पुष्टि सम्प्रदाय में इस स्वरूप का महत्व श्रीनाथ जी के पश्चात सर्वोपरि माना गया है ।

३—श्री मथुरानाथ जी (श्री मथुरेश जी)—यह भगवत्स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी कि महावन-रमण स्थल के सामने यमुना पार के कर्णवल नामक स्थान पर नदी के किनारे प्राप्त हुआ था । इन पर ब्रज से सम्बन्धित कई चिन्ह उत्कीर्ण हैं, अतः आचार्य जी ने इन्हें मथुरानाथ के नाम से प्रचारित किया ।[5] सं० १५५९ में श्री आचार्य जी ने उक्त स्वरूप को अपने कन्नौज निवासी विद्वान सेवक पद्मनाभ दास को उसकी प्रार्थना पर सेवार्थ दिया था । इस प्रकार श्री मथुरेश जी मथुरा मण्डल से कन्नौज पधारे और वहां पद्मनाभ दास के घर वालों द्वारा सेवित हुये । जब पद्मनाभ दास के वंश में कोई सेवा करने वाला नहीं रहा तब सं० १६३८ में इन्हें गोकुल में श्री विट्ठलनाथ जी को सौप दिया गया ।[6] सं० १६४० में जब श्री विट्ठलनाथ जी ने अपने पुत्रों का बटवारा किया, तब उन्होंने ने श्री मथुरेश जी का स्वरूप अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी को सौंप दिया था । कालांतर में यह स्वरूप श्री गिरिधर जी के कनिष्ट पुत्र श्री गोपीनाथ दीक्षित को प्राप्त हुआ, जिनके वंश में इनकी अद्यावधि सेवा की जाती है। औरंगजेबी शासन में जब पुष्टिमार्गीय गोस्वामियों को अपने सेव्य स्वरूपों के साथ ब्रज से निष्क्रमण करना पड़ा, तब श्री गोपीनाथ दीक्षित के वंशज श्री मथुरेश जी के स्वरूप के साथ राजस्थान के विभिन्न राज्यों में बसते रहे । बाद में वे स्थायी रूप से कोटा में रहे, जहां के राजकीय मन्दिर में इनकी सेवा होती रही । इधर कुछ वर्षों से श्री मथुरेश जी गोबर्धन में जतीपुरा के मन्दिर में विराजमान हैं ।

श्री मथुरेश जी का स्वरूप एक गोल पीठक के सहारे खड़े हुये आकार का है । इनका वर्ण श्याम है और ये चतुर्भुजी हैं । भुजाओं में आयुध धारण किये हुये हैं ।

४—श्री विट्ठलनाथ जी—यह स्वरूप काशी जनपद के चरणाट (चुनार) नामक स्थान पर एक साधु को गंगा की धारा से प्राप्त हुआ था । जब श्री वल्लभाचार्य जी सपत्नीक चरणाट में थे, तब सं० १५७२ की पौष कृ० ९ शुक्रवार को उक्त साधु ने यह स्वरूप श्री आचार्य जी को प्रदान किया । संयोग से उसी दिन आचार्य जी के द्वितीय पुत्र का जन्म हुआ था । आचार्य जी ने पुत्र का नाम विट्ठलनाथ रखा और उक्त देव स्वरूप को भी श्री विट्ठलनाथ जी के नाम से प्रचारित किया । इनकी सेवा आचार्य जी के घर में होती रही। उन्होंने उन्हें किसी वैष्णव भक्त को सेवार्थ प्रदान नहीं किया था ।[7] बाद में श्री आचार्य जी को यमुना नदी से श्री स्वामिनी जी का एक स्वरूप प्राप्त हुआ, जिसे उन्होंने श्री विट्ठलनाथ जी के साथ पधरा दिया था । जब गो० विट्ठलनाथ जी ने सेव्य स्वरूपों का बटवारा अपने पुत्रों में किया, तब श्री विट्ठलनाथ जी का स्वरूप उनके द्वितीय पुत्र श्री गोविन्दराय जी को प्राप्त हुआ । उनके वंशज इनकी सेवा गोकुल में करते रहे ।

औरंगजेबी शासन के निष्क्रमण काल में गो० गोविन्दराय जी के पौत्र सुप्रसिद्ध गो० हरिराय जी इन्हें मेवाड़ राज्य के खिमनौर नामक स्थान में ले गये थे । सं० १८५८ में इन्हें श्रीनाथद्वारा के मन्दिर में पधराया गया, जहां ये अद्यावधि विराजमान हैं ।

श्री विट्ठलनाथ जी का स्वरूप रास-क्रीड़ा के भाव से कटि पर हस्त रखे हुये नृत्य की मुद्रा में हैं। इनका वर्ण श्याम है और ये द्विभुजी हैं । दोनों चरण समतल और मस्तक पर किरीट है ।[8]

५–श्री द्वारकानाथ जी (श्री द्वारकाधीश जी)–'श्री द्वारकाधीश जी की प्राक्ट्व वार्ता, में इस स्वरूप को सारस्वत कल्प का बतलाया गया है । सहस्त्राब्दियों के पश्चात् इन्हें कन्नौज निवासी नारायण दर्जी ने प्राप्त कर इनकी सेवा की थी । श्री वल्लभाचार्य जी ने इन्हें उक्त दर्जी से लेकर अपने सेवक दामोदर दास सम्भल निवासी को सेवार्थ दिया था । दामोदर दास के देहावसान के उपरान्त इन्हें श्री वल्लभाचार्य जी के पास अड़ैल पहुंचा दिया गया । सर्व श्री आचार्य जी एवं विट्ठलनाथ जी इनकी सेवा करते रहे । जब विट्ठलनाथ जी ने सेव्य निधियों का बटवारा अपने पुत्रों में किया, तब इन्हें तृतीय पुत्र श्री बालकृष्ण जी को दिया गया । तब से ये तृतीय गृह के गोस्वामियों द्वारा सेवित रहे । औरंगजेबी निष्क्रमण काल में इन्हें गोकुल से राजस्थान के कांकरौली नामक स्थान में ले जाया गया, जहां ये अद्यावधि विराजमान हैं ।

श्री द्वारकानाथ जी का स्वरूप चौकोर पीठक के सहारे खड़े हुये आकार का है । इनका वर्ण श्याम और ये चतुर्भुजी हैं । भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किये हुये हैं ।

६–श्री गोकुलनाथ जी–श्री वल्लभाचार्य जी को यह भगवद् स्वरूप अपने श्वसुर से प्राप्त हुआ था । इस प्रकार यह प्रथम विग्रह था, जो श्री आचार्य जी के घराने में आया और सदैव उनके वंश में सेवित रहा । श्री विट्ठलनाथ जी ने बटवारे के समय इन्हें अपने चतुर्थ पुत्र गोकुलनाथ जी को दिया था । ऐसा कहा जाता है कि औरंगजेबी शासन के निष्क्रमण काल में भी यह स्वरूप किसी प्रकार गोकुल में ही रहा आया, जहाँ अब भी विराजमान है ।

श्री गोकुलनाथ जी का वर्ण गौर है और ये चतुर्भुजी हैं । इनकी दक्षिण भुजा ऊपर उठी हुई है और वाम भुजा में शंख है । अन्य दो भुजायें वंशीवादन की मुद्रा में हैं । दक्षिण पग उठा हुआ है । इनके दोनों ओर दो स्वामिनियां हैं ।

७–श्री गोकुल चन्द्रमा जी–यह भगवद् स्वरूप व्रज के महावन नामक स्थान की एक क्षत्राणी को ब्रह्मांड घाट पर यमुना नदी से प्राप्त हुआ था । उसने इन्हें श्री वल्लभाचार्य जी को अर्पित कर दिया । आचार्य जी ने इन्हें महावन के नारायणदास ब्रह्मचारी को सेवार्थ प्रदान किया । नारायणदास अत्यन्त निष्ठा-वान भक्तजन था । वह बड़े प्रेमभाव से श्री गोकुल चन्द्रमा जी की सेवा करता था । जब उसका देहावसान हो गया, तब श्री गोकुल चन्द्रमा जी को गोकुल में विट्ठलनाथ जी को सौंप दिया गया । सेव्यस्वरूपों के बटवारें के समय श्री विट्ठलनाथ जी ने इन्हें अपने पंचम पुत्र श्री रघुनाथ जी को दिया था । औरंगजेबी शासन के निष्क्रमण काल में इस स्वरूप को गोकुल से स्थानान्तरित किया गया था । इस समय श्री गोकुल चन्द्रमा जी कापूजन (राजस्थान) के मंदिर में विराजमान हैं, जहां श्री रघुनाथ जी के वंशजों द्वारा सेवित है ।

श्री गोकुलचन्द्रमा जी का स्वरूप सुन्दर श्याम वर्ण का द्विभुजी है और ये वंशी-वादन की ललित त्रिभंगी मुद्रा में हैं । पुष्टि सम्प्रदाय में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि श्री गोकुलचन्द्रमा जी के साथ स्वामियों के दो स्वर्ण निर्मित स्वरूप भी थे । वे चोरी चले गये । तब से इनके दोनों ओर स्वामिनियों की भावना से दो खड़े तकिये रखकर उन पर फूल मालायें धारण करायी जाती हैं ।'

८–श्री बालकृष्ण जी (अथवा श्री कल्याण राय जी या श्री मुकुंदराय जी–श्री बालकृष्ण के स्वरूप की प्राप्ति श्री वल्लभाचार्य जी को एक कूप से उस दिन हुई थी, जिस दिन उनके द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ

जी का कर्ण-वेध संस्कार किया जा रहा था। उस स्मृति में उक्त कूप का नाम 'कर्ण वेध कूप' रखा गया। निधियों के बटवारे के समय यह स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी के छठे पुत्र श्री यदुनाथ जी को दिया गया था। यह स्वरूप आकार में छोटा है, अतः इससे श्री यदुनाथ जी की संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने उक्त स्वरूप को अपने बड़े भाई श्री बालकृष्ण जी को सौंप दिया। इससे श्री द्वारकानाथ जी के साथ श्री बालकृष्ण जी की सेवा भी उनके द्वारा की जाने लगी। श्री यदुनाथ जी अपनी इच्छा का स्वरूप न मिलने से बड़े उदास रहने लगे। साम्प्रदायिक मान्यता है कि श्री यदुनाथ जी की संतुष्टि के लिये बाद में उन्हें श्री कल्याणदास जी का स्वरूप दिया गया था।[१०] दूसरी मान्यता है कि उन्हें श्री मुकुन्दराय जी का स्वरूप दिया गया। कुछ भी हो, ये तीनों स्वरूप श्री यदुनाथ जी के पृष्ठ गृह में उनके वंशजो द्वारा सेवित हैं। इस समय श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप सूरत के मन्दिर में, श्री कल्याणराय जी का स्वरूप शेरगढ़ (बड़ौदा) के मन्दिर में और श्री मुकुन्दराय जी का स्वरूप काली मन्दिर में विराजमान हैं। ये तीनों मन्दिर श्री यदुनाथ जी के वंशजों के हैं, जहां षष्ठ गृह की विभिन्न गद्दीयां हैं।

श्री बालकृष्ण जी का स्वरूप भगवान श्री कृष्ण की शैशव कालीन लीला का सूचक है। इनका वर्ण श्याम है और ये द्विभुजी हैं। इनकी दक्षिण भुजा में नवनीत है।

९—श्री मदन मोहन जी—यह सेव्य स्वरूप श्री वल्लभाचार्य जी को अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ था और इनकी सेवा श्री आचार्य जी की माता श्रीमती इल्लम्मा जी करती थीं। घर के ठाकुर होने के कारण इन्हें किसी भक्त जन को सेवार्थ प्रदान नहीं किया गया था। निधियों के बटवारें में यह स्वरूप श्री विट्ठलनाथ जी के सप्तम पुत्र श्री घनश्याम जी को प्राप्त हुआ। इस समय यह स्वरूप वामबन (राजस्थान) में वहाँ की सप्तम गद्दी के मन्दिर में विराजमान है। इनके दोनों और दो स्वामिनियां हैं।

श्री मदनमोहन जी का वर्ण गौर है, और ये द्विभुजी हैं। वेणुवादन की त्रिभंगी मुद्रा में हैं। मस्तक पर पंच शिखा हैं। तन पर यज्ञोपवीत है और चरणों में पादुकायें हैं।

इन प्रमुख सेव्य स्वरूपों के अतिरिक्त और भी अनेक स्वरूप पुष्टि सम्प्रदायी मन्दिरों में विराजमान हैं; जहाँ इनकी सेवा सांप्रदायिक विधि से की जाती है।

सन्दर्भ

१. इस हस्तलिखित पुस्तक का प्रकाशन 'प्राचीन भगवत्स्वरूपों की यादी' शीर्षक से 'वल्लभीय सुधा', वर्ष ३ अंक ३–४, वर्ष ४ अंक १, अंक २, वर्ष ५ अंक १, और अंक २ में किया जा चुका है।
२. श्री गोबर्धननाथ जी के प्राक्ट्य की वार्ता, पृ० ४६
३. वार्ता साहित्य: एक वृहत अध्ययन, पृ० ५४५
४. चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अंतर्गत वार्ता सं० १३ 'गज्जन धवन की वार्ता' और वार्ता सं० १५ 'एक क्षत्राणी की वार्ता' देखिये।
५. चौरासी वैष्णावन की वार्ता के अंतर्गत वार्ता सं० ४ 'पद्मनाभ दास की वार्ता' प्रसंग ९ का 'भाव-प्रकाश'।

६. सांप्रदायिक इतिहास की कड़ियाँ (वल्लभीय सुधा) वर्ष ५ अंक १
७. प्राचीन भगवत स्वरूपों की यादी (वल्लभीय सुधा, वर्ष ३ अंक ३-४।)
८. पुष्टिमार्ग में सेवित प्रमुख नौ स्वरूप (डॉ० गोबर्धन नाथ शुक्ल) सूर ग्रंवावली, पंचम खंड, पृष्ठ ३०७४।
९. प्राचीन भगवत्स्वरूपों की यादी (वल्लभीय सुधा, वर्ष ५ अंक १ पृष्ठ १३।
१० लेखक कृत 'ब्रजस्थ बल्लभ सम्प्रदाय का इतिहास,' पृष्ठ ८२)

THE ART OF SĀNJHĪ

Premlata Paliwal

I am intensely elated at the movement to convey to you all a message in COLOURS imported from. Braja—'bhumi' that believed in

यो वै भूमा तत्सुखं वाऽल्पे सुखमस्ति ।

What a beautiful, coincidence! As I speak to you this evening on 'Kala and Krishna' in relation to Sānjhī, the art of Braja, a very timely topic proposed by Mr. Sharma, a devotee—scholar, my mind goes back to those hoary evenings known as 'sanjā' in brajabhāṣā, when Śrī Kṛṣṇa, in the glittering moon-lit-evenings of the month of Kunwar i.e. September or October used to figure out, in local flowers, different artistic designs on the sandy shores of Yamunā. It used to be a sort of 'Flower-show' displayed in multifarious motifs depicting the highest and the richest aesthetics of the entire cosmic creation for the recreation of 'gopīs' known as His soul-mates in Śrīmad-Bhagvata. The same artistic patterns called 'SĀNJHĪ' are, upto this day, imitated by the Vaiṣṇava devotees in the commemoration of Kṛṣṇa-līlā.

In this way the art of 'sānjhī' like all other great arts, has a great historic beginning wedded to religion as Manohar Kaul confirms, "All great art is inspired by religion which is an emotion that lifts humanity from earthly plane"[1]. And Krishan, as known to us, embodies the highest spirit of sānjhī-art. Nay, all art originates from Him; that's why, Viṣṇusahasranāma, while enlisting His one thousand names, is pleased to call him Vedavid Kavi, Kāmadeva, Kāmapāla, Pramodana, Sarvavedavinisrita—वेदविद् कविः, कामदेवः, कामपालः, प्रमोदन, सर्ववेद । while Gopālsahasranāma addresses Him as Phālguna-sakha फाल्गुन सखा i.e. the friend of Phalguna i.e. Holi that symbolizes all that is colourful in life. It indicates that Kṛṣṇa, through His floral

---

Dr. PREMLATA PALIWAL, Principal, R. C. A. Girls' Degree College, Mathura, and Secretary, Vrindaban Research Institute, VRINDABAN,

creation of art, presents a way of life before Rādhā, the dearest of His 'Gopīs' as how to be in love with art and make the most use of Nature for self-expression. As such, with a view to going deeper into the meaning of the subtle 'sānjhī' art, it is apt to enter into the background to Kṛṣṇa legend and its supporting elements, as the entire domain of sānjhī-art, nay, the entire Indian art is closely related to the Kṛṣṇa-cult in colours humanizing all that is True, Good and Beautiful (satyam, śivam, sundarum). As known to us and supported by M. S. Randhawa, the Braja-bhūmi, the land of Braja, has been an adores of art right from the age of Kṛṣṇa started before the birth of Christ and the art of sānjhī-drawings have been nestling in its lap right from the age Kṛṣṇa legend that goes back to the period of Chhandogya Upaniṣad which mentions about Kṛṣṇa Devakiputra, while Keith, in his Sanskrit Literature, feels that there was a tradition about Kṛṣṇa as a 'ṛṣi' from the time of Ṛgveda hymns. Then comes Śrī Kṛṣṇa of Mahābhārata associated with Gītā followed by the age of Bhāgavata purāṇa delineating a galaxy of Kṛṣṇa episodes such as His descent on the earth, His Gokul-līlā, His Vrindāban pranks with 'gopīs' etc. as narrated in Smd. Bhāgavatapurāṇa, which like other purāṇas is spiritual in character. As Rādhā Kṛṣṇan dictates very boldly "Spiritual experience is the foundation of India's rich cultural history—while the sacred scriptures of the Hebrews and the Chrestians are more religious and ethical, those of the Hindus are more spiritual and contemplative. The one fact of life in India is the Eternal Being of God"[2].

In this way, the origin of 'sānjhī' goes back to the hoary past resurrected with the upsurge of the Bhakti cult releasing vast spiritual currents and cross currents that gave birth to a long line of saint poets and mystic savants like Vallabhāçārya, Mahāprabhu Çaitanya, Svāmī Hita Harivansa, Svāmī Haridāsa, who in their celestial songs in the vernacular or in Sanskrit, rejuvenated the sublime spiritual teachings and devotional cult enshrined in Bhāgavatapurāṇam.

Strikingly enough, this Bhakti-cult of Vaiṣṇava devotees takes Kṛṣṇa-līlā not a historical event but an eternal reality. As the poet Nīlkanṭha expresses it, 'the narration is not the real point; the heart is the seat of his līlā.

With this predominance of heart हृदय पक्ष, Kṛṣṇa the Eternal Artist, the cosmic colourist, has manifested Himself in the art of 'sānjhī' on the soil of His birth for the sake of drawing 'jīva'—the 'being' closer to His own self which is 'āhlād' or 'ānanda'. This ānanda is jīva's own svarūpa known as 'āhlādinī śakti Rādhā. Thus, Kṛṣṇa exhorts us to awaken our inner joy, our own svarūpa for enjoying the eternal līlā of Kṛṣṇa, the Eternal Lord by the grace of Rādhā, who is 'sanjivani śakti' or life-giving force.

As it is well known, the basic concept of Vaiṣṇava theology is to be traced in its view of the Universe not as a complete illusion, but as a reality wherein God reveals His

presence to man. The legend of Rādhā-Kṛṣṇa as displayed in the art of 'sānjhī' embodies the entire drama of human life as a spiritually psychic experience reflected in the relation of the eternal Lover and Beloved. Kṛṣṇa's efforts to please Rādhā through the depiction of 'sānjhī' convey the Lover's gestures to fascinate the Beloved by colouring His subtlest ecstasies of romance, his human passions and sentiments in floral designs as He used to do with his magical flute playings. By this, it appears as if Kṛṣṇa, the Eternal Lover, longed after giving a concrete shape to His entire abstract amorous gestures bubbling within. That's why, following the words of Lawrence Binyan, it can rightly be observed that in sānjhī-art, "there is frankness and abandon a spontaneous directness which affects one like some of our own ballad poetry with its traditional refrains but also its heart piercing sudden sweetness".

As mentioned before, Kṛṣṇa and gopīs form the nucleus of the sānjhī—art. Hence, it is apt to understand Kṛṣṇa's relationship with 'gopīs' which has been a subject of much discussion amongst scholars. It is a point indeed around which pivots the entire world of human emotions pertaining to the domain of 'Kāma' i.e. sex which is made to be transcended with the contact of Kṛṣṇa's divinity. After all, what is this Kṛṣṇa's love for 'gopīs' ! Commonly speaking, Kṛṣṇa is a cow herd boy, a 'gvālā', prone to all those pranks and frivolities which radiate the joys and buoyancy of childhood days. He loves to break the butter-milkpitchers, to steal away butter or curd from their houses. Nay it is not enough. Daily he is found coining a new way of teasing the 'gopīs' of Vrindāban in veils. He goes to the extent of stealing their garments while they bathe in Yamunā. It is thus easy to notice that Kṛṣṇa is in love with all the novelties of life as a whole and loves to share them with His mates. To Him, human life is a growing process evolving into the different domains of Beauty-Beauty that consummates into newness at each moment of life, as Māgha, the renowned Sanskrit poet puts it :

क्षणे क्षणे यदन्नवतां विधत्ते तदेव रूपं रमणीयतायाः ।

Kṛṣṇa's relationship with 'gopīs' and His whole līlā-pranks in the land of Braja culminate into the embellishment of human life in its totality, so that life becomes full of ānanda i.e. joy whatever be the circumstances. No speck of dreariness, no trace of dullness is tolerable to Kṛṣṇa.

This is the magnanimous message of 'sānjhī' woven around Kṛṣṇa Līlā that embodies the spirit of रसौवैसः : Better to say, Kṛṣṇa Himself is 'Rasa', the relish of aesthetics, the supertaste of all the fine arts. As Vallabhāçārya finds Him 'madhura' sweet from all sides when he sings अधरं मधुरं बदनं मधुरं etc., the art symbolizing Him and His līlā does also represent the pinnacle of sweetness. In aesthetics, the highest degree of Romance (śṛngāra rasa) aims at the ecstasies both in union and separa-

tion at an equal pace i.e. union in separation and separation in union this is the import of the world of true romance.

This theme of spiritual oneness forms the base of 'sānjhī'. The state of empathy between Kṛṣṇa and 'gopīs' presents the canvass for the silent paints of sānjhī—the art that appeals to be the delineation of dainties and dalliances of Kṛṣṇa līlā on the Braja Bhūmi. Wondrous it is to know that Kṛṣṇa, the King of life's novelties, the Emperor of supreme ānanda is endeared to lend concrete forms of His flute notes through His drawings of 'sānjhī' which are the harbingers of love, light and sweetness. ·This message reveals the secret of affinity between microcosm and macrocosm elements i.e. व्यष्टि and समष्टि of the Metaphysics.

Here one can easily make out the ground against which the sānjhī-kalā better known as Kṛṣṇa-Kalā got accentuated through the Kṛṣṇa-legend.

Now it is worth while to churn out the philosophical substance hitherto enriching the pastoral art of 'sānjhī'. With this view in mind, it is easy to point out through the myths of Kṛṣṇa-līlā, that the art of 'sānjhī' initiated by Kṛṣṇa Himself became a source of psychic and spiritual entertainment to the gopīs in His absence. After Kṛṣṇa's departure from Vrindāban, they imitated His līlās in the drawings of 'sānjhī' and even started offering a worship like 'Āratī and Bhoga' to those sānjhī-figures for establishing a spiritual affinity with them. This worshipful attitude lent a vital and positive meaning to the sānjhī-patterns confirming the fact that worship as well as art is an imitation of life as suggested by Aristotle. Gopi's lamentations painted through the sānjhī-drawings became so overwhelmingly charged with the ecstay in grief that they began to appear as springs of painful pleasure of the highest order lending a very subtle meaning to the Shelleyan saying :—

Our sweetest songs are those
That tell of saddest thoughts.

Later, in the course of time, this Kṛṣṇa-cult sprouted up to its fullest producing a good number of its devotees such as Vallabhāçārya and his poet disciples like Sūradāsa, Nandadāsa etc. They, very lively, reproduced Kṛṣṇa-līlā in their poetry dipped mostly in Mādhurya, Śringāra and Vātsālya emotions and brought in a revival of the art of sānjhī paintings by composing poems related to these themes. It concludes that sānjhī patterns were, then put in black and white that added an all-embracing lyrical element to the domain of colours. Even the great Italian artist, Leanardo de Vinci felt the same way when he says, "painting is poetry that is seen". And so we can very well conclude that the chief function of art like that of poetry is to create a state of empathy i.e. oneness between the object and its seer by arousing the emotions of the highest order.

Through sānjhī depictions the hidden emotions of a human heart find an outlet for their discharge. It is a sort of 'Catharsis' or purgation which helps the artist as well as the onlookers to be relieved of the emotional load; if not, the heart may break into pieces in the lover's separation.

The philosophy of the sānjhī art is the philosophy of the 'Good Earth' making her children share mutual joys and sorrows. That is why each sānjhī design in its absolute naked form appears to be the smile of the mother Earth, an off-shoot of the soil of the Braja-bhūmi as it originates in Braja, prospers in Braja and evolves in Braja and is immortalized in Braja and if at all needed will perish in Braja alone.

On penetrating deep into the metaphysical and philosophical meanings of the sānjhī art, one comes to opine that the theme of sānjhī is the theme of the whole cosmos delineated through the love domain of Rādhā-Kṛṣṇa, the Divine couple known in our purāṇas as Māyā and Brahma, or His Śakti or Prakṛti and Puruṣa of sākhya philosophy. To begin with, it initiates itself with one ātmā 'Kṛṣṇa' that becomes many. Ekoham bahuśyam (एकोऽहम् बहुस्याम्) i.e. Oneness transforming itself into many–ness as it were. As such, one unbound substance of Brahmā which is limitless freedom of Celestial space is covered into the paintings of sānjhī art. However, the artist is well aware of the transient nature of life as depicted by Zimmer Hein rich[3].

"Earth is the primordial mother of life; she feeds all creatures out of her substance and devours all; she is the common grave. She clasps to her bosom the life she has brought forth denying to it the unbound freedom of celestial space".

As such, the sānjhī artists prefer to adopt the eternally dynamic themes of Rādhā-Kṛṣṇa līlā as opposed to the mundane ones fated to decay and death. To be more precise, a work of sānjhī art can be said to be a delineation of the entire Hindū philosophy and mythology in colours or cowdung or seasonal flowers, by which the art is rendered into a folk-lore of perpetual nature made accessible to all and sundry. As such, the artists of sānjhī, unlike the modern painters, love to remain anonymous away from the glare of name and fame for the sake of imparting immortality to the 'nitya-līlā', eternal play of Śrī Kṛṣṇa putting himself in total effacement.

According to Vaiṣṇava philosophy, God and His creation are both true and beautiful. It, therefore, purposes a devotee to aspire for being perfect instrument for the service of the Divine. As a result, he should consider his work as an offering to the divine and endeavour to express by it his relation with the Divine. Under this Vaiṣṇava impact of the spirit of total surrender at the feet of the Lord, the art of sānjhī is brought to light as a means of expression, not an end in itself. It is a selfless state where the artist ceases to think of his work. His personality dwindles into nothingness; he is reduced to the level of an agent and his art, a means of expressing his relation with the Divine.

These inner expressions find a rythm in 'sānjhī—creations' through colours. That is why the art of 'sānjhī' is known as the expression of the artist's inner beauty illustrated in colours.

The colour complex of 'sānjhī' conveys a very unique import owing to its naturalness and bright combinations. The very original and countrymade colours are used in this folk-art. Although sānjhī drawings are made all over the Braja area, yet Vrindāban, the town of temples known as the heart of Braja-bhūmi, has been the cardinal seat of this art hitherto displayed in the temples like Rādhāramaṇa, Rādhāvallabha etc. As per tradition, the 'sānjhīs' are picturized for five days only from the 11th day of the dark fornight of Kunwār upto the 15th day i.e. Ekādaśī to Amāvāsyā. These days, sānjhī-art has also taken a form of folk-worship by the unmarried girls who adore 'sānjhī' as a goddess, considered to be bestower of nice matches to the young girls.

The information of a sānjhī requires a special skill acquired through a long hereditary association prevalent among local 'gosvāmīs'. An earthen platform known as 'Vedī' forms the canvass for the sānjhī painting each day. The earth is allowed to remain a little wet so that it catches the imprints soon. However, its measurements are left to the choice of the artists concerned, who love to display the sānjhī designs on the verandah grounds available before the deities, where the devotees may have an easy access. As the sānjhī art is intensive in nature, it requires many skilled hands for different purposes. It is strange to know that one man is devoted to one special function only, such as the outline maker would make merely outlines and the colourer will fill the colours only and stencil makers, stencils and so on. After a stencil is made, the designers draw the lines on the 'Vedī' with a thread dubbed in colour. As for the sānjhī motifs, as it is known the lotus radiates in Indian art all that is pure, loving and sweet. The artists of Braja-bhūmi have very well gone, for the lotus flower with its eight petal i.e. 'aṣṭadal-kamala' (अष्टदल कमल) that symbolizes five elements and three 'guṇas'. 'Ahaṅkāra' i.e. Ego is its central pivot around which the entire creation revolves for its subtle designings, the artist sits on a 'çaulkī' in the middle and works on the formation of eight petals decorating them with different designs. These border patterns look amazing to the viewers owing to the cosmic varieties of their flowers and their overlapping drawing inlaid with their subtle nuances. As known in the vernacular, बेल के दाँव पेंच i.e. the gamblings in the intertwining of the creepers are a challenge to the highest skill of art. After the bases in different designs drawn, one man sprinkles the powder colours (made) at very low cost such as black from charcoal, white from chalk on ground rice, red from bricks etc. These are put in a very thin cloth-bag handled by a skilled artist who keeps on sieving the powder on the flowery stencil to be used for a particular design. One colour is used on one stencil i.e. for different stencils, different colours are used. It,

Sānjhi
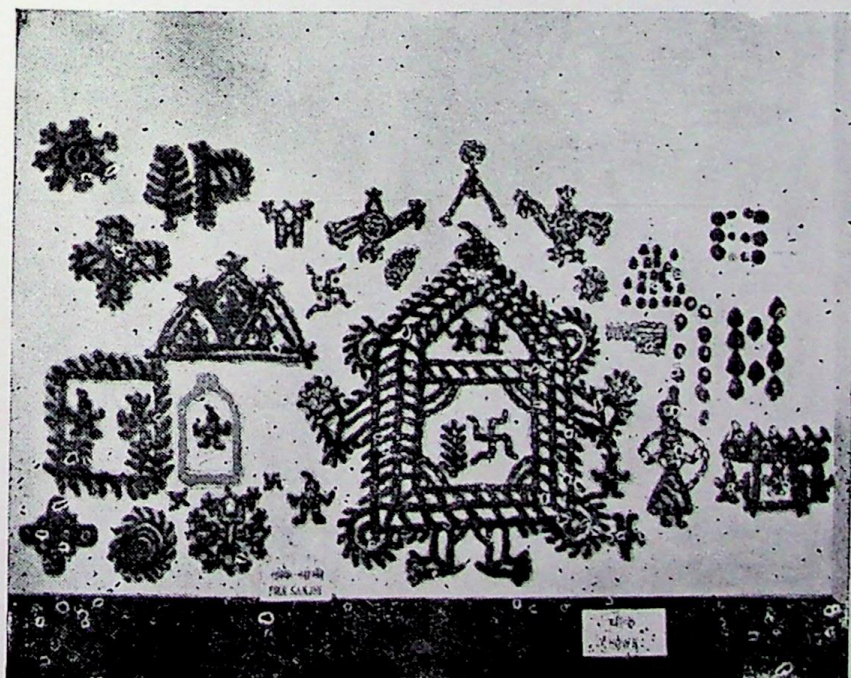
Chowk (Loka-Sānjhī)
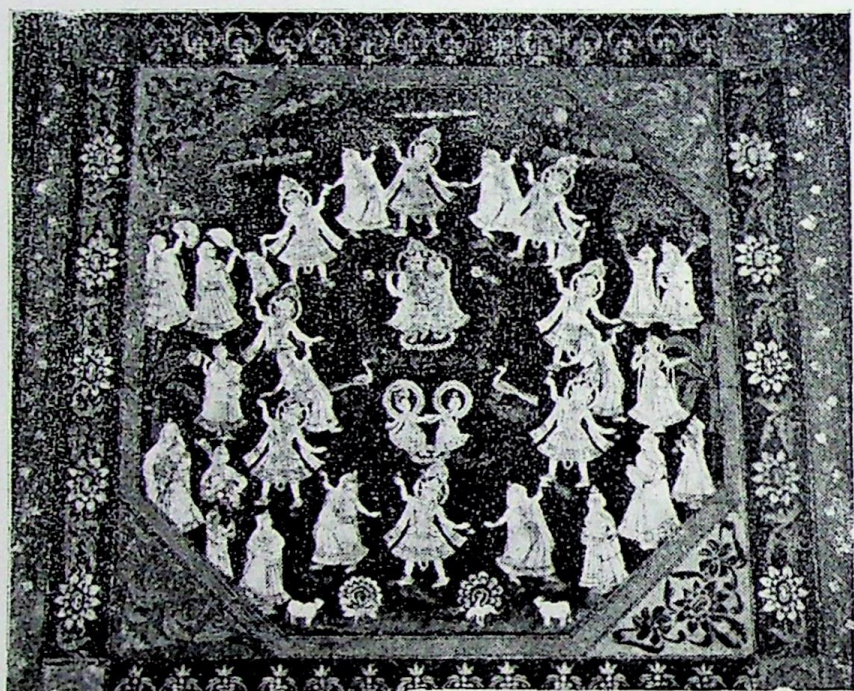
Sānjhī—Decorated with dry colours

however, requires a great skill to fit in the stencils over each other for bringing in the exactness of the design concerned[4].

As regards the varieties of the flowers and their use in the art of Sānjhī Svāmī Haridāsa, the singing saint of Braja, has given a long list illustrating the flowers names to be used in the sānjhī-sansār i.e. the world of sānjhī which, itself, creates a land of wonders to the lovers of art, as he says :—

सांजजुही, चमेली, चम्पा, राइबेलि 'औ' बेलि
गुलाबाँस के भेंद करे कर, करत परसपरि केलि
कमल, कनेर, केतकी, निबौरी, रेवति सदा गुलाब
गुलतर्रा 'और' सदा सुहागिनि, फूलन की भरि छाल
ललिता चम्पक लता बिसारवा, स्यामा भामा जेह
चन्द्रभगा, तुंगा चन्द्राबलि, आई करि अति नेह-
ठौर ठौर सब कहत सखिन सों, चलो भट घर जाहि
स्यामा जू ओ नवल सखि दोऊ, गुही परेसवर बाँहि
फूल गेंद सलहिन लिए कर गावत सांझी गीत।
गजगति चाल चलति अति सुन्दर, बढ़ी परसपर प्रीति।

It is important to note that a few artists of very traditional nature do not like to efface each day the figures of their Thakurji, hence in place of stencil ones.

Besides these earthern base, we also have in the land of Braja the sānjhī-drawings made on the çaukī (wooden stool) and on water which is done on a small scale.

And thus the entire sānjhī art appears to be a candle light delineation owing to its mystic haze and cosmic themes.

However, my heart cries out to raise an appeal before all the art-fans, critics, erudites and the authorities concerned saying that this Kṛṣṇa-Kalā of the Braja-bhūmi singing the celestial songs of Kṛṣṇa—legend in colours of Sānjhī—art, is in utter need of a highly compassionate treatment by the Govt. machinery for its prompt preservation, or it will vanish in the womb of oblivion. वन्दे व्रजवसुन्धराम्।

REFERENCES

1. Indian Painting.
2. Indian Philosophy, p. 41. Blackie and Son Publishers.
3. Indian Art and Civilization, 1962, p. 75.
4. Poddar Abhinandan Granth—An Article on 'Sānjhī' by Jyotishi Radheshyam Dwivedi, P. 854.

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ।।

—गीतगोविन्द

ग्वालियर दुर्ग के चतुर्भुज मन्दिर में कृष्ण लीला-दृश्य

अमर सिंह

सोलहों कलाओं के स्वामी भगवान कृष्ण को विष्णु का आठवाँ अवतार माना जाता है। देवकी पुत्र कृष्ण का सर्वप्रथम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है, किन्तु इसमें कृष्ण को वासुदेव नहीं कहा गया है।[1] अतः कुछ विद्वान महाभारत में वर्णित वसुदेव और देवकी से उत्पन्न पुत्र कृष्ण से इन्हें भिन्न मानते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव और अर्जुन का उल्लेख मिलता है, जिनके उपासकों को वासुदेवक और अर्जुनायन कहा गया है।[2] इसी प्रकार पतञ्जलि के महाभाष्य से भी वासुदेव-कृष्ण की उपासना का संकेत मिलता है।[3] घोसुण्डी, वेसनगर, मथुरा आदि स्थलों से प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट है कि मथुरा तथा राजस्थान में द्वितीय प्रथम श० ई० पू० में भगवान कृष्ण (वासुदेव) की पूजा प्रचलित थी और उनके मन्दिरों का भी निर्माण किया जाने लगा था।[4] मथुरा से प्राप्त कतिपय कुषाण कालीन शंख, चक्र और गदाधारी चतुर्भुजी प्रतिमाओं की पहचान डा० जोशी ने वासुदेव कृष्ण के रूप में की है।[5] इसके अतिरिक्त इस समय तक बालक कृष्ण का वासुदेव को गोकुल से ले जाना, कृष्ण द्वारा केशीवध तथा गोवर्धन धारण करना आदि कृष्ण-लीला दृश्य भी पाषाण एवं मृण्मूर्ति कला में अंकित किए जाने लगे थे।[6] कुषाण काल की परम्परा गुप्तकाल में भी चलती रही। मण्डोर, ऐरण, देवगढ़, वाराणसी, भीतरगाँव, श्रावस्ती, मथुरा आदि स्थलों से गुप्तकालीन कृष्ण-लीला दृश्य उपलब्ध हुए हैं।[7] बादामी की गुफाओं (छठी श० ई०) में अंकित कृष्ण-लीलाएँ भी उल्लेखनीय हैं।[8]

गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर प्रतिहार कालीन मन्दिरों में भी कृष्ण-लीलाओं का अंकन हुआ है। इस दृष्टि से ओसियां (राजस्थान) के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन मन्दिरों का निर्माण काल आठवीं शताब्दी ई० के आसपास माना जाता है। इनमें कृष्ण जन्म, दधि-मन्थन पूतना वध, यमलार्जुन उद्धार शकट भंजन ग्वालबालों के साथ बाल क्रीड़ा अरिष्टासुर वध, केशीवध, गोवर्धन धारण, धेनुका वध, कालीय मर्दन, कुवलयापीड वध, मल्ल युद्ध आदि दृष्यों को प्रदर्शित किया गया है।[9] ओसियां के अतिरिक्त राजस्थान

श्री अमर सिंह, उ० प्र० राज्य पुरातत्व संगठन, जवाहर भवन, नवां तल, लखनऊ।

के केकीन्द और अटरू नामक स्थलों में भी कृष्ण-लीला के चित्रण दर्शनीय हैं।[१०] मध्य प्रदेश में खजुराहो के मन्दिरों में कृष्ण-लीला की अधिकांश मूर्तियाँ लक्ष्मण मन्दिर में उत्कीर्ण हैं।[११]

ग्वालियर तथा उसके आसपास नरेसर, बटेसर, अमरोल आदि स्थलों पर भी गुर्जर-प्रतिहार शैली के मन्दिरों का निर्माण हुआ है, किन्तु इनमें से ग्वालियर दुर्ग पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर के अतिरिक्त अन्य किसी भी मन्दिर में कृष्ण लीलाओं का अंकन नहीं मिलता। चतुर्भुज मन्दिर का निर्माण गुर्जरप्रतिहार शासक मिहिर भोज के शासन में संवत् ९३२-३३ (८७५-७६ ई०) में हुआ था; जैसा कि मन्दिर में उत्कीर्ण दो शिलालेखों से ज्ञात होता है।[१२]

चतुर्भुज मन्दिर के अर्धमण्डप के स्तम्भों पर आधारित पूर्वी-पश्चिमी और उत्तरी दिशा के भार पट्टों के भीतरी भागों को कृष्ण-लीला दृश्यों से अलंकृत किया गया है। इनमें उत्तर की ओर के भारपट्ट में पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमशः बालकों का बदलाव, पूतना-वध, शंकट-भंग, यमलार्जुन उद्धार, केशीवध तथा अरिष्टासुर वध अंकित हैं। इसी प्रकार पूर्वी पट्ट में दधि-मन्थन, गोवर्धन धारण, नृत्य वादन, कालियमर्दन, कुवलयापीड वध और मल्ल युद्ध का दृश्य दर्शनीय है।

बालकों का बदलाव

कंस के कोप से बालक कृष्ण को बचाने के लिए वसुदेव उसे नन्द-यशोदा के यहां गोकुल पहुंचा आये थे और बदले में उनकी कन्या (योगमाया) को ले आये थे। चतुर्भुज मन्दिर के प्रथम दृश्य से कलाकार ने इसी घटना को चित्रित करने का प्रयास किया है। इसमें वसुदेव यशोदा को कृष्ण को सौंप कर उनसे कन्या ले रहे हैं। बालक कृष्ण को गोकुल पहुंचाने का एक कुषाण कालीन दृश्य मथुरा से भी प्राप्त हुआ है, जिसमें वसुदेव कृष्ण को लेकर यमुना पार करते हुए प्रदर्शित हैं।[१३]

पूतना वध

कृष्ण को विष पिलाकर मार डालने के लिए कंस द्वारा भेजी गयी राक्षसी पूतना ने जब अपने स्तनों में विष लगा कर दूध पिलाने के बहाने बालक कृष्ण के मुख को अपने स्तनों से लगाया, तो उस अद्भुत शक्ति वाले बालक ने पूतना के दूध के साथ-साथ उसके प्राण भी पी डाले। इस दृश्य को चतुर्भुज मन्दिर में बड़ी स्वाभाविकता से प्रदर्शित किया गया है। बालरूप श्रीकृष्ण पूतना के दायें स्तन को पकड़कर पी रहे है। पूतना के हाथ ऊपर फैल गये हैं। उसका राक्षसी रूप प्रकट हो गया है और असह्य पीड़ा के कारण उसका शरीर निश्चेष्ट होता जा रहा है।

कला में पूतनावध के अन्य दृश्य बादामी की गुफाओं, केकीन्द, ओसियां, अटरू तथा खजुराहों के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[१४]

शंकट भंग

शंकट भंग भी कथा भागवत पुराण में मिलती है। इसके अनुसार एक बार बालक कृष्ण एक

बैलगाड़ी के नीचे लेटे हुए थे। भूख लगने के कारण मां के दूध पीने की इच्छा से रोते हुए उन्होंने अपने पैरों को ऊपर उछालना प्रारम्भ किया। उनका नन्हा पैर लगते ही बैलगाड़ी उलट गयी और उसके पहिये आदि टूट कर ध्वस्त हो गये।[15] चतुर्भुज मन्दिर के दृश्य में किरीट मुकुट धारी युवा कृष्ण बैलगाड़ी के नीचे लेटे हैं। उनका दाहिना हाथ सिर के नीचे रखा है तथा बायें हाथ और दायें पैर से वे गाड़ी को उलटते हुए प्रदर्शित हैं। उनके हाथ और पैर के जोर से गाड़ी के पहिये धरातल से ऊपर उठ गये हैं।

शंकट भंग के अन्य दृश्य मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ, देवगढ़ के दशावतार मन्दिर, बादामी गुफाओं तथा ओसियां के मन्दिरों से उपलब्ध होते हैं।[16] इनमें कृष्ण का बाल रूप ही अंकित किया गया है, किन्तु इसके विपरीत ग्वालियर के चतुर्भुज मन्दिर में कृष्ण को युवा रूप में चित्रित किया गया है। खजुराहो के मन्दिरों में भी शंकटभंग के दृश्य में कृष्ण का युवा रूप दर्शनीय है।[17]

यमलार्जुन उद्धार

भागवत पुराण में एक कथा आती है, जिसके अनुसार कुबेर के दो पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव नारद के शाप से वृक्ष हो गये थे। वही यमलार्जुन नाम से प्रसिद्ध हुए। एक बार श्रीकृष्ण की शरारतों के के कारण माता यशोदा ने उन्हें ऊखल से बांध दिया। कमर में बंधी हुई ऊखल को लेकर वे यमलार्जुन वृक्षों के बीच से निकले। ऊखल फंस गयी। श्रीकृष्ण ने जोर लगाया और उनकी अद्भुत शक्ति से दोनों वृक्ष उखड़ गये। इस प्रकार दोनों कुबेर पुत्र शाप से मुक्त हो गये।[18]

चतुर्भुज मन्दिर के दृश्य में घुंघराले बालों से युक्त बालक कृष्ण ओखली से बँधे हैं, जो कि दो वृक्षों (यमलार्जुन) से फंस गयी है। पास में एक स्त्री (सम्भवतः यशोदा) विस्मय मुद्रा में खड़ी हैं।

यमलार्जुन उद्धार के अन्य दृश्य ऐरण, बादामी की गुफाओं, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, पहाड़पुर, अटरू, ओसियां, खजुराहो आदि स्थलों से भी प्राप्त हुए हैं।[19]

केशीवध

इस दृश्य में श्रीकृष्ण अश्वरूप में आये हुए राक्षस केशी का वध कर रहे हैं। भागवत पुराण के अनुसार केशी एक दैत्य था जो कंस की प्रेरणा से अश्व का रूप धारण कर श्रीकृष्ण को मारने आया था, किन्तु कृष्ण ने स्वयं उसका वध कर दिया।[20] केशीवध के अन्य चित्रण मथुरा (कुषाण कालीन), मण्डोर के स्तम्भ (गुप्त कालीन), भीतरगाँव के मन्दिर, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, ओसियां, अटरू तथा खजुराहो के मन्दिरों में पाये गये हैं।[21]

अरिष्टासुर वध

इस दृश्य में श्रीकृष्ण वृष रूप में आये हुए दैत्य अरिष्टासुर का वध करते हुए चित्रित हैं। भागवत पुराण के अनुसार अरिष्टासुर नामक दैत्य श्रीकृष्ण को मारने के लिए वृष का रूप धारण कर आया था, किन्तु कृष्ण ने उसकी सींग पकड़कर उसे पृथ्वी पर गिरा दिया और अपने पैरों से कुचल डाला।[22] अरिष्टा-

सुर वध के अन्य दृश्य मण्डोर के गुप्तकालीन स्तम्भ, बादामी की गुफाओं, ओसियां और खजुराहो के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[२३]

दधि-मन्थन

इस दृश्य में यशोदा दही मथ रही हैं। उनके समीप ही बाल रूप कृष्ण खड़े हैं।

गोवर्धन धारण

यह दृश्य कुछ अस्पष्ट है। इन्द्र के कोप से ब्रज की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को धारण किया था। कृष्ण के गोवर्धन धारी रूप के दर्शन हमें मथुरा और रंगमहल की कुषाण कालीन कला में भी प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त भारतकला भवन (वाराणसी) की गोवर्धन धारी प्रतिमा, मण्डोर के स्तम्भ तथा ओसियां के मन्दिरों में चित्रित गोवर्धन धारण के दृश्य भी उल्लेखनीय हैं।[२४]

कालीय दमन

इस दृश्य में श्रीकृष्ण कालिय नाग के फण के ऊपर खड़े हुए प्रदर्शित हैं। कालिय दमन की कथा का वर्णन भागवत पुराण में विस्तार से मिलता है।[२५] भारतीय शिल्प में कालिय दमन के दृश्य मथुरा, मण्डोर के गुप्त कालीन स्तम्भ, बादामी की गुफाओं, ओसियां और खजुराहो के मन्दिरों में उपलब्ध होते हैं।[२६]

कुवलयापीड वध

मथुरा में कंस के कुवलयापीड नामक हाथी को श्रीकृष्ण ने मार डाला था। चतुर्भुज मन्दिर में हाथी का वध करते हुए श्रीकृष्ण को प्रदर्शित किया गया है। कुवलयापीड वध के अन्य दृश्य बादामी की गुफाओं, भीतरगांव, ओसियां और खजुराहो के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[२७]

मल्ल युद्ध

मथुरा में कंस की रंगशाला में श्रीकृष्ण और बलराम को मुष्टिक और चाणूर नामक मल्लों से युद्ध करना पड़ा था। खजुराहो के मन्दिरों में इसी प्रकार का एक मल्ल युद्ध प्रदर्शित है। मल्लों से युद्ध के अन्य दृश्य बादामी की गुफाओं, सिरपुर के लक्ष्मण मन्दिर, ओसियां और खजुराहो के मन्दिरों में भी दर्शनीय हैं।[२८]

सन्दर्भ

१. छन्दोग्य उपनिषद (३,१७,६)।
२. अष्टाध्यायी (४·३·९८)।
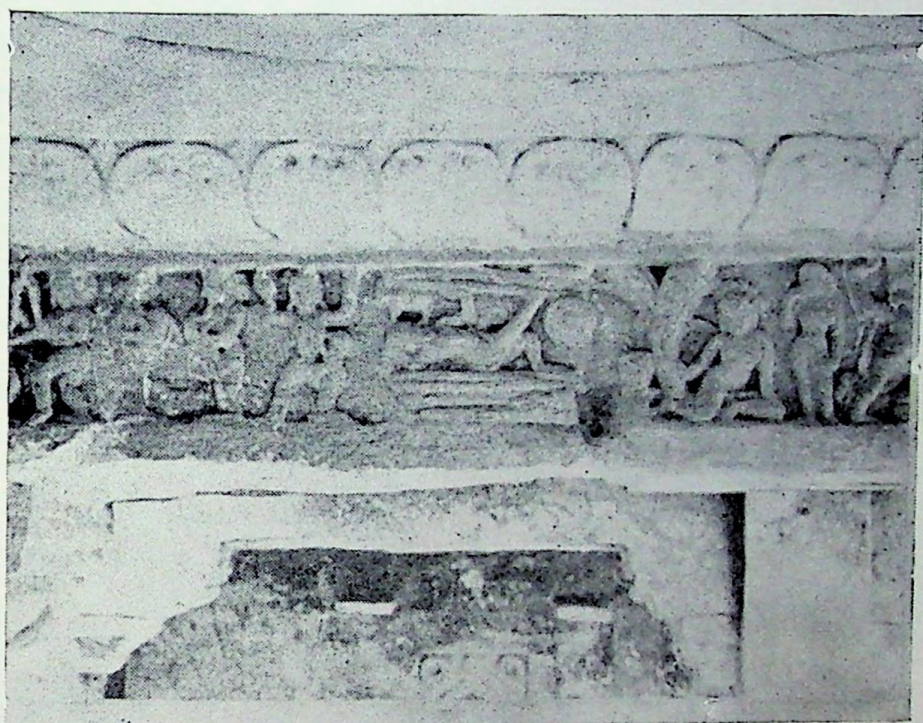
चतुर्भुज मन्दिर के अर्धमण्डप पर अंकित कृष्णलीला, ग्वालियर

३. पतंजलि (VI, ३,५)।
४. बनर्जी, जे० एन०, द डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकनोग्राफी पृ० ९१-९३; सरकार, डी०सी० सेलेक्ट इन्सिक्रिप्सन्स, पृ० ९०-९१।
५. जोशी, नी०पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० ८७-८९।
६. जोशी, नी० नु०, मथुरा की मूर्तिकला फलक ५८, ६४; मथुरा संग्रहालय संख्या १७,१३४४; टेराकोटाज इन बीकानेर म्यूजियम, ललितकला, नं० ८, अक्टूबर १९६०।
७. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० १०४।
८. देव, कृष्ण, कृष्ण लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला नं० ७, मार्च १९६०।
९. अग्रवाल, आर० सी०, कृष्ण एण्ड बलराम इन राजस्थान स्कल्पचर्स एण्ड एफीग्राफ्स, इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कलकत्ता भाग ३०, संख्या ४, १९५४, पृ० ३३९-३५३।
१०. वही।
११. देव, कृष्ण, कृष्णलीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल खजुराहो, ललितकला नं० ७, मार्च, १९६० पृ० ८९।
१२. एपिग्रैफिया इण्डिका, भाग—१, पृ० १५४-१६२।
१३. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० ८७-८८।
१४. अग्रवाल, आर० सी०, इ० हि० क्वा०, खण्ड-३०, नं० ४, पृ० ३४६-४८; अटरू की प्राचीन मूर्तिकला, मरू भारती, पिलानी वर्ष-८, अंक-१ (जनवरी, १९६०) पृ० ६८।
१५. भागवत पुराण (१०, ७, ६-७)।
१६. देव, कृष्ण, कृष्ण लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८७; अग्रवाल, आर० सी०, जर्नल आफ द एशियाटिक सोसायटी, लेटर्स एण्ड साइन्स, खण्ड-२३, सं०—१, पृ० ६३; वत्स, माधव स्वरूप, मेम्वायर आफ द आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया सं० ७० XVIII-बी।
१७. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ पृ० ११७।
१८. भागवत पुराण (१०, १०)।
१९. बाजपेयी, कृष्णदत्त, मध्य प्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, बुलेटिन आफ एन्सिएण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्कियोलोजी, नं० १, १९६७ पृ० ८४; देव, कृष्ण, कृष्ण लीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललितकला नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८४; अग्रवाल, रत्न चन्द्र, मरुभारती, वर्ष ८, अंक—१, पृ० ६८, इ० हि० क्वा० अंक ४, अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो, की देव प्रतिमाएँ पृ० ११८।
२०. भागवतपुराण (१०,३७)।
२१. जोशी, नी० पु०, मथुरा स्कल्पचर्स (सं० ५८, ४४७६), पृ० ६८-६९; अग्रवाल, आर० सी०, ई० हि० क्वा०, खण्ड ३८, अंक—१, पृ० ८६, अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० १२३।
२२. भागवत पुराण (१०, ३७)।

२३. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० १२० ।

२४. जोशी, नी० पु०, प्राचीन भारतीय मूर्ति विज्ञान, पृ० १०४ ।

२५. भागवत पुराण ।

२६. अवस्थी, रामाश्रमय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० ११९-२० ।

२७. वही, पृ० १२१-१२२ ।

२८. अवस्थी, रामाश्रय, खजुराहो की देव प्रतिमाएँ, पृ० १२२; देव, कृष्ण, कृष्णलीला सीन्स इन द लक्ष्मण टेम्पुल, खजुराहो, ललित कला नं० ७, मार्च १९६०, पृ० ८४-८५ ।

KṚṢṆA LEGENDS AS DEPICTED IN JAINA PAINTINGS IN LUCKNOW MUSEUM COLLECTION

Kiran Kumar Thaplyal

The present paper seeks to discuss five Jaina paintings in the collection of the State Museum, Lucknow. These hitherto unpublished paintings form part of a set of Rājasthānī paintings datable, according to experts, to c. 1825.[1] The theme of this paper was suggested by Shri R. C. Sharma, Director, State Museum, Lucknow, who very kindly provided facilities for the first hand study of the original paintings and also supplied the accompanying photographs. Dr. J. P. Jain kindly suggested bibliography and also made available Jaina works for study.

The numerous legends connected with Lord Kṛṣṇa form part of the collective consciousness of our people since times immemorial, and permeate our cultural life, transcending sectarian and regional bounds. Besides the great mass of Epic and Purāṇic literature, which abounds in Kṛṣṇa lore, we have legends connected with Lord Kṛṣṇa in Buddhist and Jaina literature also. The details and sometimes even the themes of Kṛṣṇa legends and their treatment vary widely in non-Brahmanical literature and other works of art from those in the Brahmanical ones, which is obviously the result of difference in religious and moral view-points, as also of sectarian bias.

The main theme of these four paintings is to depict episodes connected with the life of Neminātha, the twenty-second *Tirthaṅkara*, and Kṛṣṇa appears in them in a secondary role. It may be noted here that Jaina literature refers to Kṛṣṇa, son of Vasudeva, as the elder first cousin of Neminātha[2] and also as the ninth Nārāyaṇa and one of the 'Sixty-three great men' (*Triṣṭhiśalākāpuruṣas*).

The paintings are exquisite water colour polychromes and on the back side of each occurs a brief description of the scene in Rājasthānī. As regards the delineation of the

---

Dr. Kiran Kumar Thaplyal, Reader, Deptt. of Ancient Indian History and Archaeology, Lucknow University.

figures of Kṛṣṇa and Neminātha in the paintings, they wear almost identical dress and ornaments, the main difference being that Kṛṣṇa's body has bluish tinge while that of Neminātha is in blackish tinge, and that the crown of Kṛṣṇa has a circular feather-like comb on top, while that of Neminātha has a feather-shaped one. A description of the Paintings is given below.

PAINTING—1 (No. 55.229/3)

(Plate 1 A)

The painting depicts from left to right the following scenes.

(a) Neminātha stringing a bow with two attendants standing in front, and one behind,

(b) Neminātha blowing a conch, with Kṛṣṇa standing a little behind him,

(c) Kṛṣṇa and Neminātha, standing face to face,

(d) Kṛṣṇa is shown gripping the outstretched right hand of Neminātha by both hands in an attempt to test his strength.

The painting evidently illustrates an episode or episodes mentioned in the Jaina literature. The evidence of *Nemināthamahākāvya*, a fifteenth century text, shows that all these scenes depict various stages of one episode. We are told that one day Neminātha stringed the bow of Kṛṣṇa and blew his conch. At this Kṛṣṇa felt alarmed and wanted to test his (Neminātha's) power. Kṛṣṇa asked Nemi to bend his outstretched arm which the latter did easily (8. 62). Then Neminātha asked Kṛṣṇa to bend his arm, which the latter could not do. This established the superiority of Neminātha.

The *Harivaṁśapurāṇa* (a 10th century text) has different details, and going by it the painting depicts two different episodes. It has (Chap. 55, slokas 1-14) a story that one day in Kusumaçitrasabhā, where Kṛṣṇa, Balarāma, Nemi and other Yādava princes were present, a discussion arose as to who was the most powerful man. Those present variously named persons like Arjuna, Bhīma, Kṛṣṇa and Balarāma, but the last-mentioned said that Neminātha was the most powerful. With a view to test Neminātha's power Kṛṣṇa challenged him for wrestling. But Neminātha said, 'let Kṛṣṇa first try to move my foot.' Kṛṣṇa tried and failed, and acknowledged Neminatha's superiority.

As regards the scenes depicting Neminātha stringing Kṛṣṇa's bow and blowing his conch, the *Harivaṁśapurāṇa* story goes on to say (Chap. 55. sloka 29 f.) that once Kṛṣṇa, Neminātha and other Yādava princes with Yādava ladies went on a long picnic to the Girnar Hills. There, after enjoying water sports with Kṛṣṇa's wives, Neminātha jokingly asked Jāmbavatī to clean his under garment. Jāmbavatī, in order to tease Neminātha, told him that even her great husband, Kṛṣṇa, whose conch-shell's sound resounds the earth and sky, and who holds the mighty bow, dare not ask her to do such a

job, so how he dare do so. On hearing this, Neminātha, in order to show his might, went to the palace, sat on the *nāgaśayā* of Kṛṣṇa, stringed Kṛṣṇa's bow and blew his conch-shell. On hearing the sound of his conch, Kṛṣṇa went to his armoury and saw Neminātha on *Nāgaśayā*. He, however, showed affectionate regard to him. He was pleased to learn that Neminātha had done this on being provoked by Jāmbavatī, and thought it was proper age for Neminātha to get married.

The three-line text on the back side of the painting (plate I A) reads :

(1) श्री रठनेमी माराज धनुसाला में आके धनुस उठावा तो श्री क्रसनजी कुबड़ी ची (ता)

(2) उतपन हुई के अे मारा राज ले लेयगा। जब जुदकी प्रषसी करी तो चीटा अगला परत्रं [य]

(3) कुंजरकालीअे : असा स्यासहे

(Hindi Version)

श्री अरिष्टनेमि महाराज धनुसशाला में जाकर धनुष उठाये तो कृष्ण जी को बड़ी चिंता उत्पन्न हुई कि यह हमारा राज्य ले लेगा। जब युद्ध की परीक्षा करी तो चींटी अपने पराक्रम से कुंजर को हरा देता है, ऐसा समझा ।

(English Translation)

When Ariṣṭanemi *mahārāja*, after going to *dhanushaśālā*, picked up the bow, Kṛṣṇa was assailed by the fear that he (Neminātha) would take away his kingdom. 'When the force is tested (even) an ant with its prowers can defeat an elephant', this he understood.

PAINTING—2 (No. 55.229/17)

(Plate II A)

The painting depicts Kṛṣṇa and Neminātha in Holi revelries with ladies. The two are shown in dancing postures in the middle and on either side are four ladies in dancing poses. One of the lady on the left holds a sprinkler and another is playing on a *ḍholaka*. On the right, one holds a sprinkler and another plays on a *ḍhapalī*. This *Holi* scene seems to be a nineteenth century modified version of the pleasure sports of these two princes with Yādava ladies on the Girnar Hill, as mentioned in the *Harivaṁśapurāṇa* and other Jaina texts. The text on the back of the painting indicates that the queens of Kṛṣṇa (who was afraid of Nemi's might), at his instance, invited Neminātha to Holi revelries and succeeded in persuading the latter to agree to get married.

The three-line text on the back side of the Painting (plate II B) reads as below :—

(1) श्री क्रसन माराज ने सतभामाजी व रुषमणी जी से रठन्मी माराज की सारी हकीगत कई

(2) ओर ईसी कही के ए मारा राज छीन लेगा (1) सो तुम उस कु कोई तर स्मजा··· ···
के प्रणायो (1) ज्व पट्

(3) राणी 8 आद दे क रठनेमी माराजी कु फाग ··· ··· ··· षेलने लेगी ओर प्रणावारी हामीज भराई ।

(Hindi Version)

श्री कृष्ण महाराज ने सत्यभामा जी व रुक्मिणी जी से अरिष्टनेमि महाराज की सारी हकीकत कही और ऐसी कही कि यह हमारा राज्य छीन लेगा (1) सो तुम उसको कोई तरह समझा के प्रणायो (अर्थात् परिणय लिये तैयार करो। तो 8 पटराणी आदर दे कर अरिष्टनेमि महाराज जी को फाग खेलने ले गयीं और प्रणय (परिणय) के लिए हामी भराई।

(English Translation)

Śrī Kṛṣṇa *mahārāja* told the truth about (the might) of Ariṣṭanemi *mahārāja* to (his wives) Satyabhāmā and Rukmiṇī, and further told (them) thus, 'He might take away my kingdom; therefore, by any means, bring him round to get married'. The eight chief queens (of Kṛṣṇa) respectfully invited Neminātha *Mahārāja* for *Phāga* (*Holi*) revelry and made him agree to get married.

PAINTING—3 (No. 55.229/6)

(Plate III A)

The painting depicts in the upper centre Kṛṣṇa and Neminātha discussing matters relating to the marriage party of Neminātha. On the left are the Yādava princes, ready for joining the marriage procession. On the right are four musicians, three playing variously on drums, *shahnāi* and cymbals, and one singing. In the lower field are shown two caprisioned horses.

The text on the back of the painting (plate III B) reads :—

श्री रठनेमी माराज वा कीसन माराज बरात चढ़ाने के वास्ते सला कर रये हैं।

(Hindi Version)

श्री अरिष्टनेमि महाराज व कृष्ण महाराज बरात चढ़ाने के वास्ते सलाह कर रहे हैं।

(English Translation)

Śrī Ariṣṭanemi *Mahārāja* and Kṛṣṇa *Mahārāja* are discussing matters relating to marriage party.

PAINTING—4 (No. 55.229/1)

(Plate IV A)

The fourth painting depicts a sequence of scenes leading to Neminātha's renunciation. On the extreme right lower-field, the royal figure attended by two female figures is to be identified with Ugrasena, King of the Bhojas and father of princess

Rājamatī (who was betrothed to Neminātha). Towards the left of this scene are three ladies at the gate of the palace. Of these, the leading one with *ārati* in hand is to be identified with Rājamatīs mother. Further left, is seen bridegroom, Neminātha, seated on a chariot yoked to a seven—tusked elephant (Airāvata) mounted by a charioteer (Indra)[3], turning away from palace gate. On the extreme lower field are seen Kṛṣṇa and another prince with folded hands. On the upper field from right to left, we see two ladies (perhaps one of them is princess Rājamatī) watching from balconies with trees in the background, some animals, a palanquin being carried by two men, and a mounted horse.

The *Harivaṁśapurāṇa* (Chap. 55, lines 81 ff) and other Jaina texts tell us that once Neminātha alongwith other princes went on chariot to see the beauty of nature. Rājamatī and other ladies were pleased to watch him pass by. On way Neminātha saw a large number of animals tethered within a fence. On inquiring why they were there, the charioteer told that they were meant to be slaughtered for the feast of his marriage party. Neminātha, greatly shocked at hearing this,[3] gave up the idea of marrying, made up his mind to renounce the world. Kṛṣṇa requested him not to renounee the world, but Nemi's decision remained unchanged.

The painting and the text on its backside, in general tallies with the story of the *Harivaṁśapurāṇa*, but they indicate that the tethered animals were seen by Neminātha while his marriage party had reached near the bride's house, and that he turned his chariot away from near its gates, deciding to renounce the worldly life. Kṛṣṇa is shown requesting him not to renounce and to take the chariot to bride's place.

The five line text, on the back of the painting (plate IV B) reads :

(1) राज उग्ररसेन जी ने बोत पसु अषटे कर रषे हे तो रठनेमी मारज ने सुयारथी से (2) पूछा के ये कोह (1) उ बोलो माराज येः गोठ के वास्त हे (1) ईतनी सुनकर रथ कू पीछा (3) सासुजी अरतीलेक आये (1) उस बषत फरदीआ (1) सब लोक हाके बाके रह गये (4) कीरन माराज अरज कर रय हे के आपने रथ कु फेराः तो फुरमाआ के ए म न्ही (५) प्रणेंगे (1) गीरनार जाकर जोग धारण करेंगे (1)

(Hindi Version)

(यह देखकर कि) राजा उग्रसेन जी ने बहुत पशु इकट्ठे कर रखे हैं, तो अरिष्टनेमि महाराज ने सारथी से पूछा कि ये किस लिये है। वह बोला, 'महाराज ये गोस्त के वास्ते हैं'। इतना सुनकर (उन्होंने) रथ को पीछे (कर दिया)। सास जी आरती लेकर आयीं। उस वक्त (रथ को) फेर दिया। सब लोग हक्के बक्के रह गये। कृष्ण महाराज अर्ज कर रहे कि अपने रथ को फेरिये (वापस कीजिए) तो फरमाया यह कि हम नहीं प्रणेंगे (अर्थात् शादी नहीं करेंगे)। गिरनार जाकर योग धारण करेंगे।

(English Translation)

(Seeing that) King Ugrasena has collected many animals, Ariṣṭanemi *Mahārāja* asked the charioteer as to what for they were (there). He answered that they were for meat (to be served to the men in his marriage party). Hearing this he turned his chariot back. At the time when(his would-be)mother-in-law had come with *ārati*, he turned away his chariot. People were stunned. Kṛṣṇa *Mahārāja* requested him to turn the chariot (towards the bride's place). But Neminātha said,' 'I shall not marry, I shall perform *Yoga*, after going to Girnar Hills.'

PAINTING—5 (No. 55.229/15)

(Plate V A)

The painting depicts Neminātha, seated in *yogāsana* near the top of a hillock. On the left, in the foreground, are Kṛṣṇa and five Yādava princes, and in the background a few trees. On the right foreground are two deer and a tiger. The scene portrayed obviously refers to Kṛṣṇa and the Yādava princes paying homage to Neminātha after the latter had attained *Kevala jñāna*, a theme so well described in the *Harivaṁśapurāṇa* and other Jaina works. The depiction of tiger and deer in close proximity is intended to suggest that due to the impact of Neminātha's noble character the tiger gave up killing deer and the two animals lived amicably together thereafter.

The two-line text on the back of the painting (plate V B) reads :

(1) श्री रठनेमी मारज कु केवलगान उपज गया हे श्री कीरस्न महाराज आद ।
(2) देके दरसन करेण······आवे हे ।

(Hindi version)

श्री अरिष्टनेमि महाराज को केवल ज्ञान उपज गया है । श्री कृष्णमहाराज आदर देकर दर्शन करने आये हैं ।

(English Translation)

Śrī Ariṣṭanemi *Mahārāja* has attained *Kevala jñāna* (highest knowledge). Kṛṣṇa *Mahārāja* has come to pay him respectful homage.

REFERENCES

1. Vide State Museum Accession Register.
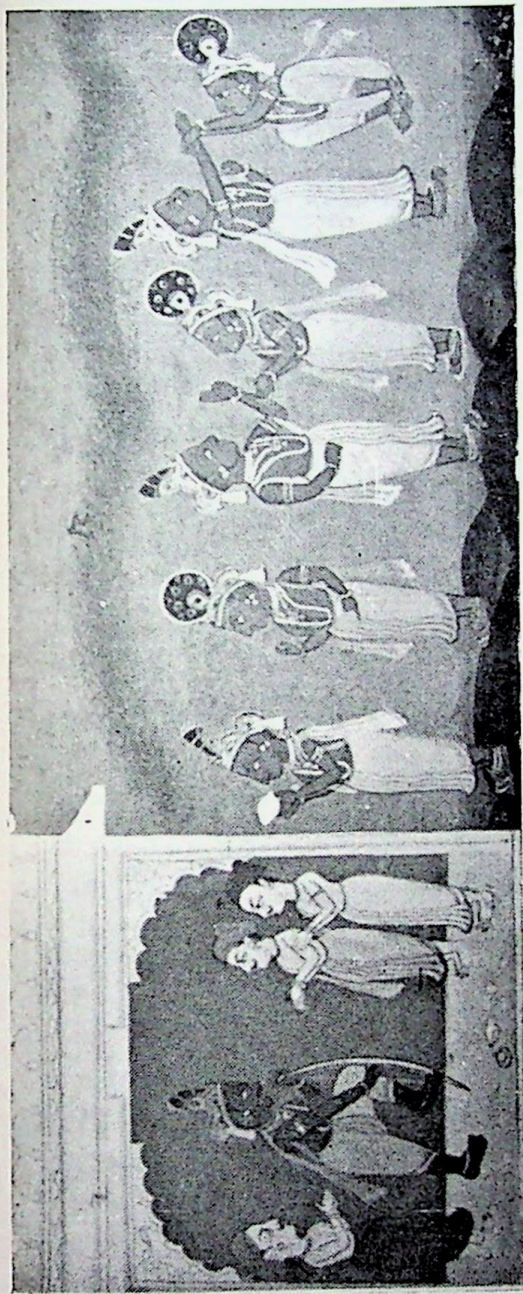
55.229/3 Neminātha showing his supremacy before Kṛṣṇa

55.229/3 Legend on the reverse
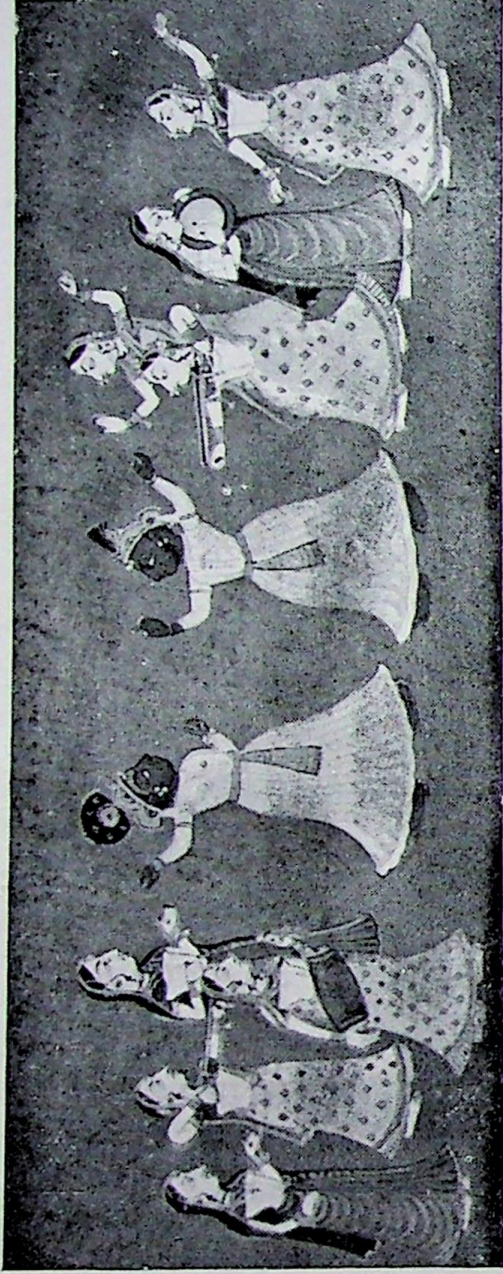
55.229/17 Kṛṣṇa and Neminātha playing Holi

55.229/17 Legend on the reverse

2. This is either an innovation or lapse on the part of the artist. In the Jaina texts, the bridegroom, Neminātha, goes on a horse-drawn chariot. The presence of Indra and Airāvata is mentioned in the Jaina texts at the time of Neminātha's birth.

3. The *Uttarapurāṇa* of Guṇabhadra tells us that Kṛṣṇa, envious and afraid of Neminātha's prowers purposely got the animals collected on Neminātha's route with a view that the latter may renounce the world.

यं शैवाः समुपासते शिवइति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धाः बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नियथ जैनशासनरताः कर्मेतिमीमांसकाः
सोऽयं वोविदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथोहरिः ।

राजकीय संग्रहालय मथुरा में कृष्ण कथानक कलाकृतियां–एक सर्वेक्षण

अरविन्द कुमार श्रीवास्तव

मथुरा नगर को कृष्ण की लीला स्थली होने का आदि काल से गौरव मिला है। आज भी अनेकों की संख्या में भक्त जन आये दिन यहां आकर कृष्ण कथानक स्थलों की यात्रा एवं दर्शन कर अपनी श्रद्धा अर्पित करते हैं। उपासकों द्वारा अपनी सामर्थ्य एवं विश्वास के अनुरूप भिन्न-भिन्न माध्यमों में कृष्ण कथानक के अनेक पहलुओं को मूर्त रूप देकर न केवल सदैव के लिये कृष्ण कथानक की ऐतिहासिकता की पुष्टि की है वरन् सम्पूर्ण कथानक को जीवन्त रूप प्रदान करने में सफल हुये हैं। राजनैतिक उथल-पुथल, आर्थिक उतार-चढ़ाव एवं दैवी आपदाओं के प्रति फल से ये विभिन्न कलाकृतियां अपने मूल स्थानों या स्वामियों से बिछुड़ गयीं और आज भारत के अनेक व्यक्तिगत संग्रह एवं संग्रहालयों की श्री वृद्धि कर रही हैं। राज्य संग्रहालय, लखनऊ द्वारा (कला में कृष्ण कथानक) प्रदर्शनी एवं संगोष्ठी के इस अवसर पर व्रजभूमि में स्थित राजकीय संग्रहालय के संग्रह में कृष्ण कथानक कलाकृतियों का परिचय कराना ही हमारा अभीष्ठ है।

राजकीय संग्रहालय मथुरा जिसकी स्थापना सन् १८७४ में श्री ग्राउज द्वारा की गयी थी अब एक बहुउद्देशीय संग्रहालय के रूप में विकसित हो रहा है। मथुरा कला के शोध छात्रों का तो यह तीर्थ स्थल ही है। कृष्ण कथानक सम्बन्धी कला सामग्री के संकलन हेतु संग्रहालय के अभिलेखों के अध्ययन में न केवल पत्थर, मिट्टी, धातु एवं लकड़ी में उकेरे गये कृष्ण के अंकन मिले हैं वरन् उनके जीवन की कई घटनाओं के सुन्दर चित्रण भी जानकारी में आये हैं। ये अंकन कुषाण काल से (ईसवी पहली से तीसरी शती ईसवी) प्रारम्भ होकर उन्नीसवीं शती ई० तक हैं। कृष्ण कथानक कितने लोक प्रिय रहे की पुष्टि इसी तथ्य से हो जाती है कि इन्हें ईंटों, चित्रों, लघुचित्रों, लकड़ी एवं कपड़ों, रंगे गये चित्रों, कढ़ाई के नमूनों में भी स्थान मिला है। कुछ प्रमुख कथा दृश्यों में वसुदेव द्वारा बालक कृष्ण को गोकुल ले जाने, बाल लीलायें, गोवर्धन

Dr. A. K. Srivastava Director, Govt. Museum, Mathura.

धारण, कालिय दमन, धेनुकासुर, कंस एवं बकासुर वध उल्लेखनीय हैं। अधिकांश अंकन संग्रहालय में गोवर्धनधारी, वेणु गोपाल, लड्डू गोपाल रूप के हैं। कुछ अंकन राधा-कृष्ण के भी हैं। कृष्ण कथानक ने समकालीन अन्य सम्प्रदायों को भी प्रभावित किया था और आज भी विद्यमान कुषाण कालीन तीर्थंकर नेमिनाथ के साथ उकेरे कृष्ण एवं बलराम के अंकन इसकी पुष्टि कर सकते हैं। कृष्ण कथानक के ये अंकन न केवल मथुरा कला के नमूनों तक ही सीमित हैं वरन् दक्षिण भारतीय धातु एवं काष्ठ मूर्तियों एवं राजस्थानी तथा उड़िया शैली में चिन्हित पट्टों एवं चित्रों में भी दृष्टव्य हैं। संग्रह में इस प्रकार ३५ प्रस्तर, १७ धातु, एवं १ मृण्मूर्ति, १ ईट, ३२ चित्र (लकड़ी, कपड़ें एवं लघुचित्र) एवं २ लकड़ी की फलकों पर उकेरे कृष्ण कथानक यहां उपलब्ध हैं जिनके संक्षिप्त विवरण अधोलिखित हैं—

BRIEF DESCRIPTIONS OF ANTIQUITIES RELATING TO KṚṢṆA LEGEND IN GOVERNMENT MUSEUM, MATHURA

Sl. No.	Acc. No.	Description	Size	Find Place	Period
1	2	3	4	5	6
	SCULPTURES (35)				
1.	47.3374.4	Relief showing Kāliya-damana (RSS)	2′.2″×1′.5″	Kansa-Tila	Gupta
2.	49.3461.4	Part of Kaliyadamana Scene (RSS)	1′.4″×.8″	do	,,
3.	70.141.4	Kṛṣṇa lifting Govar-daana (RSS)	9″×7″	Cicty	,,
4.	B 47.4	—do—	1′.8½″		7th cent.
5.	D 50.4	Kṛṣṇa lifting Govar-dhana on his left hand ; a cow & a calf.	4½″		,,
6.	D. 55.4	—do—	4¾″	Hakimpur	,,
7.	1113.4	—do—	Ht. 9½″	Yamuna	Medieaval
8.	830.4	—do—	Ht. 6″	Jaisinghpura	,,

1	2	3	4	5	6
9.	869.4	Cow and suckling calf with a miniature figure of Kṛṣṇa lifting Govardhana.	Ht. 3″	Ganesh Tita	,,
10.	1035.4	—do—	Ht. 5″	Yamuna river	,,
11.	1057.4	—do—	Ht. 5″	,,	,,
12.	1109.4	—do—	,,	,,	,,
13.	1110.4	—do—	Ht. 3″	,,	,,
14.	1996,4	—do—	7″	,,	,,
15.	D 26.4	Standing Govardhana-dhari Kṛṣṇa. It also shows on the proper l. side the milk churn of yashodā besides Gopas and Gopies.	Ht. 4′.9½″	Hansganj	Mughal
16.	47.3338.4	Scenes showing Keśī and Dhenukāsuravadha (RSS)	10″×9″	Mathura City	Medieval
17.	64.16.4	Relief showing killing of Kansa (RSS)	12″×18″		15th cent.
18.	17.1344.4	Vasudeva carrying Kṛṣṇa to Gokula. He is shown holding a basket over his head and crossing the river indicated by water ripples and the presence of acquatic animals.	1′.6″×1′.3″	Cayatri Tila	Kuṣāṇa.
19.	67.529.4	Vasudeva Kṛṣṇa Ekanamśā and Balrama,	7″×4½″	Excavations City	,,

1	2	3	4	5	6
20.	15.912.4	Architectural fragment showing Vasudeva Kṛṣṇa Ekanamsa.	.7″	Pali-Khera well II	Kuṣāṇa
21.	D.49.4	Jagannāth viz. Kṛṣṇa Subhadrā and Bala-bhadra.	Ht. 2′		
22.	2502.4	Nemi-Nāth with Kṛṣṇa and Balrāma.	6½″	Purchased	Late Kuṣāṇa
23.	2738.4	—do—	1′.7″	Chamrasi mound	Early Medival
24.	61.5393.4	—do—	.16½″	City	,,
25.	69.23.4	Two armed Kṛṣṇa (Buff)	17″×5″		Modern.
26.	943.4	Standing Kṛṣṇa (Grey soft stone)	.10½″	Ishapur	
27.	946.4	Head of Kṛṣṇa	.7½″	,,	
28.	14.392.95.4	Chaturvyūha Viṣṇu, Four pieces joined in one.		Museum well	Kuṣaṇa.
29.	1171.4	Rādhā Kṛṣṇa	7¼″	Jamuna river	
30.	79.118.4	,, (RSS)	38×21×5 cms.		Mugal
31.	58.4568.4	Venu Gopāla (Black Stone)	5¼″×11½″	Katra	,,
32.	2132.4	Small Kṛṣṇa head playing flute which he holds with two hands. Hair tied to r. in a large knot.	2¼″	Not known	Post-Gupta
33.	2130.4	Four-armed Kṛṣṇa plyaing flute and lifting Govardhana. Two miniature cows carved below (Alabastor)	Ht. 3″	—do—	Medieval

1	2	3	4	5	6
34.	783.4	Architectural piece showing Kṛṣṇa plyaing flute.	1-2″	Well Shah Quzi	—
35.	2027.4	Kṛṣṇa playing flute.	$4\frac{1}{2}$″	Jamuna	—
	BRONZES (17)				
1.	74.11.5	Kṛṣṇa statue broken in several parts.		As reported by Police Radha Vallabh Temple Sahar Teh. Chhatta.	Modern
2.	76.274.5	Laddo Gopāla Standing on a Lotus pedestal	19 cms.	Presented	,,
3.	4709.5	—do—	Ht. $2\frac{1}{4}$″	Purchased	
4.	4897.5	—do— (Brass)	Ht. $2\frac{1}{2}$″ Sq-	,,	
5.	4898.5	—do— (Brass)	$2\frac{1}{2}$″ × $2\frac{1}{2}$″	,,	
6.	4899.5	—do— with head gear and torque (Bronze)	Ht. $1\frac{1}{2}$″ × $1\frac{1}{2}$″	,,	
7.	2805.5	Laddo Gopāla standing on a Lotus pedestal (Brass)	Ht. 3″	Purchased	
8.	4905.5	Venu Gopāla (Bronze)	Ht. 3″	,,	
9.	4907.5	(Brass) —do—	Ht. $3\frac{1}{2}$″	,,	
10.	3606.5	(Brass) —do— but of interest is the *Bāla bhāva* shown by presenting him naked.	1′-$1\frac{1}{2}$″	Mathura	19th cent.
11.	3347.5	—do—	$5\frac{1}{2}$″ × $1\frac{1}{2}$″	Mathura	South Indian
12.	3444.5	(Bronze) —do—	5″	Vrindaban	—do—
13.	2804.5	(Brass) —do—	H. 5″	Purchased	—do—
14.	3443,5	(Bronze) Bālagopāla in dancing pose.	H. 5″	Vrindaban	—do—

1	2	3	4	5	6
15.	4922.5	(Bronze) Rādhā	H. $2\frac{1}{2}''$	Purchased	
16.	4923.5	,, ,,	H. $2\frac{1}{4}''$	—do—	
17.	5044.5	(Brass) ,,	H. $6\frac{1}{4}''$	—do—	
	TERRACOTTA (1)				
1.	3415.6	Headless Bālagopāla with a sweet ball (Red clay)	Ht. $3\frac{1}{2}''$	Ganesa Tila Purchased from Sri Govind Charan.	Modern
	BRICKS (1)				
1.	5238.9	Brick panel square in shape carved with the figure of Kṛṣṇa playing on flute and flanked by Rādhā in the central circular panel and Kṛṣṇa doing Rāsa with Gopis aronnd the panel.	$7\frac{1}{2}''$ Sq.	Bengal School	14-16th cent.
	PAINTINGS (32)				
1.	70.114.17	Rādhā Kṛṣṇa under the Kadamba tree hiding themselves with a cloth.	24×20 cms.	Purchased	19th cent.
2.	71.52.17	Kṛṣṇa with cows and female companions.	17″×11″	Purchased	
3.	74.56.17	—do—	33.5×20.5 cms.	Acquired through Kotwali Police, Mathura.	

1	2	3	4	5	6
4.	71.67.17	Kṛṣṇa playing on flute under the Kadamba tree. Cow and a lady.		Purchased.	
5.	61.1.17	Kṛṣṇn playing on flute flanked by Gopis.	18″		Late Kajes-thana.
6.	4932.17	Painted Baṭṭā (Mirror) circular in shape and a Lid. On one side enclosing a painting depicting Kṛṣṇa playing on flute flanked by Rādhā. On the back Rādhā-Kṛṣṇa standing on a throne placed under a Kadamba tree.	cir. 2′.3″ dia. 8¼″	Purchased	Eastern Rajasthani.
7.	71.7.17	One wooden round window type painting depicting Kṛṣṇa Līlā. Inner medallion-Kṛṣṇa flanked by two gopies, small cows below, scene of Mahārāsa on the border of lotus petals. The left leaf from inside shows Yashodā, Kṛṣṇa, Balrāma and a female attendant. Γhe right leaf is almost similar. The leaves on the exterior depict Yamuna on tortoisc and Gangā on right side on crocodiles roaring lions.	dia. 42.5 cms.	Purchased	Orissian art.
8.	4471.17	Pichhwai depicting Dāna Līlā at Dānaghāti	4′.1″×3.10″	Udaipur	Nathdwara 18 cent,

1	2	3	4	5	6
9.	71.108.17	One pichhvai illustrating Kṛṣṇa in flute playing posture, a *gosain* and a cow.	51 cms.	Purehased	Nathdwara style.
10.	65.22.17	Yashodā feeding Kṛṣṇa who lies in her lap.	1′×1¼″	—do—	Late 19th cent.
11.	65.23.17	Kṛṣṇa milking a cow Yashodā carrying a spouted Vessel watches him. Other Gopas also looking at him.	7½″×4″	Purchased	Late 19th cent.
12.	71.107.17	One piece of Pichavaī illustrating Kṛṣṇa Līlā	64×34 cms.	,,	Nothdwara
13.	5037.17	Wooden box square painted on all four sides with scenes of Kṛṣṇa's life.	15″ Sq.	Vrindaban	18th cent.
14.	72.12.17	Painting in cut and Stitch Work showing *Rāsa*.	93×82 cms.	Purchased	100 yrs. old.
15.	5235.17	Bengal scroll illustrated with various scenes. Smaller panels show Kṛṣṇa's life while bigger two show Kālī flanked by attendants and Kṛṣṇa entwined in the coils of big snake. The other scenes include *Govardhanadhar* emancipation of Nala, *Kāliyadaman*, *chira harana* etc.	9½″×1′.6″	Unknown	19th cent. A.D.

1	2	3	4	5	6
16.	67.136.17	Cloth painting containing figures of kings and scenes from the life of Kṛṣṇa.	L. 21′-9″ B. 4′-3″	—	Rajput art.
17.	3442.17	Painting showing Vasudeva taking baby Kṛṣṇa to Gokula. In the Kansa prision Jaipur Devaki is shown with the new born Kṛṣṇa. Vasudeva is contemptating his exit. The doors of the prison open and the door Keepers are shown sleeping. Then vasudeva keeping Kṛṣṇa on the head crosses the river. Behind him is shown a Lion and in front a snake. Nandas palace in Gokula is also shown across the river. Vasudeva puts the child before Nanda. Above Yashoda with her daughter is seen.	$6\frac{1}{2}'' \times 4''$	Jaipur	Jaipur school 18th cent.
18.	50.52.17	Painting later fixed on a wooden plank constructing a box showing Kṛṣṇa lifting Govardhana.	$8\frac{3}{4}'' \times 7\frac{3}{4}''$	Vrindaban Purchased.	200 yrs.
19.	74.54.17	Kṛṣṇa lifting Govardhana	24×16 cms.	Acquired through Kotwali Police Mathura,	

1	2	3	4	5	6
20.	4934.17	Framed painting showing Kṛṣṇa playing Holī	15″		Eastern Rajasthan
21.	5036.17	Rādhā Kṛṣṇa in āliṅgana mudra on a lotus seat.	1′-8″ × 1′-4″	Vrindaban	Modern
22.	5053.17	Rādhā-Kṛṣṇa	—do—	collection of Radhe Shyam Swamighat	—do—
23.	5053.17	Painting forming part of an wooden box show Kṛṣṇa and Gopas	11½″ × 8½″	Vrindaban	200 yrs. old.
24.	74.58.17	Boy Kṛṣṇa in dancing pose with a Gopi	17 × 11 cms.	acquired through Kotwali Police Mathura	
25.	74.50.17	Child Kṛṣṇa worshipped by a *Gosain*		,,	
26-31.	3436.41.17	Cloth curtains depicting scenes of prominent places of Vraja	9′–6″ Sq.	Jaipur	Jaipur school 18th cent.
32.	4570.17	Wooden box painted with towns of Vraja Mathura, Vrindaban Gokul and Barsānā including temples, *ghats*, river etc. The Paintings also reflect the dresses of various grades of Vraja during the Mughal period,	1′.3″ × 1′-3″ × 11″	Vrindaban (Chhoti Sarkar Purana Shaar) Purchased.	

Pichhwaī depicting scene of dānalīlā. No. 57.4471Mathurā Museum.

1	2	3	4	5	6
	WOOD WORK (2)				
1.	61.5239.23	Rectangular wooden panel showing Kṛṣṇa subduing Kāliya Nāga	16½″	Unknown	14-17th cent.
2.	61.5236.23	Wooden panel rectangular is shape showing Kṛṣṇa killing Vakasur.	Ht. 12½″ W. 7½″		South Indian

शङ्खचक्रधरं देवं पीताम्बरधरं हरिम् ।

श्रीभूमिसहितं देवं सर्वालङ्कारसंयुतम् ।।

स्थितं वाथ समासनिं शयितं वापि कारयेत् ।

सुप्र० ३४

KṚṢṆA IN KĀNGRĀ MINIATURES

R. C. Sharma

By far the best depiction of the Kṛṣṇa theme in Indian Art is seen in the Pahārī miniatures and specially in the Kāngrā Kalam. The Lucknow Museum painting cabinet has the privilege of possessing some of the master specimens. This paper aims at highlighting the salient features of this beautiful style of art which is so sincerely devoted to the Kṛṣṇa theme and also to present a bird's eyeview of the Lucknow Museum collection.

It is a befitting tribute to the Kāngrā school to remark that its products excell all Indian miniatures in charm and stand just next to the world famous Ajantā frescos in elegance.[1] While the Ajantā cave walls boldly narrate the noble deeds of the Buddha in different forms, the Kāngrā miniatures illustrate the Hindū mythology and particularly the valour of Lord Kṛṣṇa in the most sophisticated and sometimes in a symbolic way.

William Moorcraft a British traveller to the court of Sansār Chand II of Kāngrā in 1820 was the first person to furnish a brief account of paintings[2] but he did not possess the eye to appreciate them and the art lovers had to wait for about a century to be acquainted with this glorious art tradition till the famous art historian A. K. Coomaraswamy exhibited a few specimens in the Allahabad Exhibition in 1910 and admired their beauty in his work, the Rājpūt Painting in 1916.[3]

The Kāngrā School of painting emerged in the middle of the 18th century. The big catastrophe on Delhi caused due to the barbarous attack of Nādirshāh in 1739 forced several artists to take refuge in the neighbouring states including the Kāngrā valley in the foothills of the Himālayas. This resulted in the birth of one of the most celebrated schools of Indian paintings. This was the repetition of a similar event when Aurangzeb about a century earlier closed the doors of his court for music and art. Consequently

Sri R. C. Sharma, Director, State Museum, Lucknow.

the artists drifted from Delhi to seek shelter of Hindū kings and as a result of this confluence many a style of paintings emerged in the northern part of the country. The most notable among these was the Basohli School in the last quarter of the 17th century.

The Kāngrā School no doubt is the outcome of the great Mughal art conventions but there are several fundamental variances between the two and one cannot appreciate the real beauty of Kāngrā miniatures without analysing this contrast. The painters at the Mughal court had to submit to the wishes of their masters and painted the themes and subjects which were dear to them. The Mughal princes were much fond of hunting, drinking and enjoying the company of women. They desired pleasure in projecting their own image. The high degree of technique of Persian paintings was to a great extent retained by the Mughal artists but they did not feel free to give expression to their own feelings, vision and thoughts. The Mughal court paintings were canonised and follow a set idiom culminating in the portrait figures, the glamourous court scenes, hunting and battle scenes etc. The world was too much with them and emphasis was laid on the projection of an individual's grandeur and splendor. Consequently despite best artistic touch the Mughal paintings are overwhelmingly mundane in characteristic and paint a society which had imprisoned itself in the narrow cell of worldly pleasures. M. S. Randhawa correctly assesses that 'the amours of a degenerate nobility and trade in human flesh could create an art which can amuse but not the great art which inspires humanity'.[4]

The Kāngrā miniatures have altogether a different background. The artists who deserted the Mughal Court under the circumstances explained found their new patrons in contast to their early masters. Here the chiefs were not much interested in their self glorification and worldly achievements, instead they longed for enchanting the glory of God or their Iṣṭa. The Indian concept of kingship was far more sublime and humble and the rulers were generally trained in an atmosphere which inclucated in them the high ideals of a disciplined and benevolent life.[5] The kings were emotionally charged with a religious and spiritual fervour which cast their life in the mould of great social and ethical values. Ofcourse all of them were not puritan and did indulge in worldly pleasures and Sansār Chand II the sole patron of Kāngrā ·School was himself a complex and chaquered character, still they adopted these merriments only as means and not as aim of their life.

Even if they led a detached and elevated life the arts were not ignored as these were supposed to be the integral part the Cosmic Man, the Virāṭ Puruṣa.[6] The man not having the taste for literature, music and arts was considered to be a beast without tail.[7] Thus the Indian view of life provided a commensurate background for encouraging the

art tradition and the religion and state extended full support to flourish them. The celebacy and puritan ideals also did not come in way. This thinking was opposite to the views cherished by the puritan Mughal Emperor Aurangzeb who said good-bye to art and the artisans.

In the new environment the artists felt much relaxed and free to portray the subjects of their own choice and were very often in tune with the desire of their patrons. It was the perfect harmony of thoughts and feelings of the two that the art of Kāngrā reached such culmination. Archer rightly observes that ruler's devotion to Kṛṣṇa and artist's concentration were the motivating force behind the creation of Kāngrā's superb art.[8] These factors resulted in the depiction of religious themes or exploits of great heroes and heroines. The episodes of the Mahābhārata, Bhāgavata, Rāmāyaṇa, Nala Damayantī, Durgā Saptaśati, Kumārasambhava etc., became the favourite subjects as there was now little scope for sycophancy. These scriptures helped in creating some detached atmosphere and aimed at supermundane achievements. While all religious subjects were dear to artists, the Kṛṣṇa episode attracted them most.

Kṛṣṇa as conceived by the painters assumes different forms : he is a loving child for aged women, a handsome companion for young ones, a naughty boy for the rural folk and supreme deity for devotees. The chief characteristic of these paintings is that the focal point of the entire depiction is always Kṛṣṇa whether he appears as an infant boy, lad or a grown up hero. If there are various scenes in one painting still the whole illustration seems to rally round the personality of Kṛṣṇa. He always emerges as the great force, controlling all events and offering solution even for the most difficult problems and swiftly acting in the critical moment. When all fail and find themselves helpless and nervous he comes out victorious crushing the mighty demons removing all obstacles and miseries, imparting protection and again arousing great confidence among the innocent and terrified people. His mere presence emits a magic power and the failures are soon turned into success. The companions and spectators astonished with the frequent occurance of miracles are filled with the feelings of reverence for Kṛṣṇa Who is seldom seen shaken and disturbed. The play goes on and the Kāngrā artist seems to have realised and visualised these scenes himself and becomes emotionally in tune With them. His insight is much developed, his sharp eye catches all details and his brush creates a rhythmic impact.

Wearing a yellow or orange Kurtā the purple colour healthy but naughty Kṛṣṇa looks so loving and charming. The women are usually slim and graceful with pleasing curves and contours and an innocent but expressive face. They are clad in transparent upper covering with close fitting bodice and a multi-colour lower garment with cheque pattern or small floral decoration. Rādhā, however, excells all in the delicacy of treat-

ment. While Kṛṣṇa stands for Almighty or Parama Puruṣa, Rādhā is the embodiment of Divine Force of Prakṛti. The Rādhā aspect although a late addition in Indian mythology is a favourite subject of Kāngrā miniatures.

A notable characteristic of the Kāngrā style is that the Kṛṣṇa līlā has been rendered in an entirely a local geographical background. The artist is not much concerned in giving a realistic picture of the landscape of plains i. e. the region of Vraja the cradle of Kṛṣṇa's boyhood days. Instead he has painted the beautiful hilly region full of bamboo, plantain and mango groves, parasol shaped banyan and peepal trees, gushing streams with glacial water and terraced fields are very typical of mountain regions. Thus the surroundings of the Vraja Bhūmi as conceived by the Kāngrā artist are much more beautiful and fascinating than the present site of Mathurā and Vrindāban.

Beside the topographical grandeur, the Kṛṣṇa theme in the Kāngrā miniature has been rendered more attractive and meaningful through the depiction of lovely night scenes, thick dark clouds, lightning, rivers, undulating tracks, balustrades scattered here and there, snow caped peaks, creepers climbing or embracing the trees etc. If the hide and seek game of boys, the swimming competition of lads in the rivers, grazing of cattle by the cowherds in forest display the warmth of youth and land us in a carefree enchanting world for a moment, the monkeys on the trees, peacocks dancing with their full bloom plumage, cranes and ducks flying in a long queue in the clouded sky and partridges in the moonlight leave a very serene but mysterious and symbolic impact on the onlooker. The Kāngrā miniatures present an excellent form of figure in profile but their frontal presentation is rather weak. The Mughal impact although soften to a great extent is to be marked in wearings and the treatment of beard on the male head.

The nature seems to share the feelings of joy and sorrow with the human beings and the Kāngrā artist very successfully portrayed these emotions. The cows also take part in the extinction of demons in several events. They are quite attentive when sage Garg reads the horoscope of Balarāma and Kṛṣṇa. By doing so the master- authors of these paintings have suggested that the world of flora and fauna and also the animal kingdom is not to be misused. These are cosharers in the drama of life and are children of the same Father. If treated with piety and compassion these may prove to be better companions than the fellow human counterparts. While lifting Govardhana Kṛṣṇa gives shelter not only to men and women but also to the cows.

Imbeded with this grace, beauty, tender emotions and feelings the Kāngrā paintings have rightly been termed as 'frozen music'[9] which amuses, inspires and elevates the human mind and soul and leads to a supramental bliss. Here the ultimate aim of art and the artist appears to have been achieved and fulfilled with all grace and magnanimity.

Who were the creators of these wonderful miniatures ? The question remains unanswered. The painters of Yamalārjuna episode had uprooted the twin trees of Nāma and Rūpa hence never bothered to put their names. Still the art critics have floated a few names as Khushālā or Kushan Lāl son of famous painter Nain Sukh and Purkhu.

After surveying the essential artistic, religious and spiritual characteristics and the message of Kāngrā style in brief it is now proposed to discuss some of the representative specimens illustrating the Kṛṣṇa theme and now adorning the cabinet of the Lucknow Museum. In all there are 87 paintings of Kāngrā School and the majority deals with the Śaiva theme and particularly the illustrations from Kumārasambhava. But the Kṛṣṇa subject is also adequately represented and the number exceeds twenty. As art treasures these are far ahead in superiority to the Śaiva series. The reverse of the painting often quotes the verses from Bhāgavata and other sources of narration.

The Kṛṣṇa paintings of Kāngrā Style in the Lucknow Museum can be classified into four categories :

1. Representation of Līlās.
2. Music Scene.
3. Portraits of Kṛṣṇa and Rādhā.
4. Nāyikābheda.

The first category includes the following illustrations :—

59.190 EXCHANGE OF BABIES : It depicts the episode of Kṛṣṇa's birth and exchange of babies. The upper left compartment shows the four-armed Viṣṇu form of Kṛṣṇa. At the time of his incarnation he is being worshipped by Vasudeva and Devakī and also the three gods Brahmā, Viṣṇu and Maheśa. Kṛṣṇa is seen on a lotus seat. While the gatekeepers of the jail are sleeping Vasudeva finds way to carry the newly born child to Gokul.

41.64 ŪKHALA BANDHANA : The painting is divided into different compartments. The upper left corner shows Kṛṣṇa stealing away the butter from a pot which hangs from the ceiling. He climbs on the shoulder of a companion who sits on the mortar. Other boys are seen in assistance. Yaśodā catches Kṛṣṇa and chastises while the companions run away from the scene in fear. Two boys are trying to hide themselves in a room. In the next room a cow affectionately licks her calf. In the lower left corner Yaśodā is tying the naughty boy to a mortar with ropes each of which fell short for the purpose. The centre of the picture is occupied by the twin trees Yamala and Arjuna. This is one of the master pieces of the Kāngrā Kalam.

49.47 UPROOTING OF THE TREES : Immediately following the above scene is the episode of salvation of Nalakūbara and Maṇigrīva, the two celestials who were cursed to become the twin trees of Yamala and Arjuna by sage Nārada. After

being tied by Yaśodā, Kṛṣṇa dragged the mortar and fixed it between the two trees which were uprooted as a consequent of heavy jerk. They soon transformed into the two divine celestials and started offering prayers with folded hands. The panic created by the falling of trees has been suggested by the horrified calves and a man running for shelter. The left side of the picture shows the villagers who had soon assembled to witness the incident. Balarāma clad in white Kurtā reports the action of Kṛṣṇa to Nanda. This and the earlier picture seem to have been painted by the same artist.

31.237 COMPLAINT OF KṚṢṆA : This paints the event when a lady comes to Yaśodā to make complaint about the mischievious actions of the boy who finds himself in a tight corner. This might not be a true representative of the Kāngrā School and can be given a general term of Pahārī.

42.54 KITE FLYING : Here Kṛṣṇa is seen flying a kite. This may be an illustration from the Satasaī of Bihārī.

49.48 OFFERINGS TO KṚṢṆA : This is a superb citation of the Kāngrā style. It represents the Brāhmaṇa women bringing food to Kṛṣṇa who had earlier sent the message to their husbands to bring the meals. But they had refused to oblige Kṛṣṇa before the rituals were over. On hearing this the Brāhmaṇa ladies approached Kṛṣṇa with variety of eatables in trays, covered with embroidered rūmāls. The theme is divided into two parts. The left side shows the Brāhmaṇa women of Mathurā bringing food and the right side behind the tree depicts hungry Kṛṣṇa waiting for the offer with his cowherd companions in the forest. It displays the variety of female costumes then prevalent in the Kāngrā region. As usual the landscape is pleasing with the Yamunā flowing in its hilly course in the background.

56.390 GOVARDHAN LĪLĀ : Kṛṣṇa lifts the Govardhan hill on the small finger of the left hand. The people of Vraja and the cows take shelter under the umbrella of the mountain. The expression of the persons betrays astonishment, relief and praise. A cow shows its gratitude through the outstretched tongue to lick Kṛṣṇa's body out of affection. Indra the villain is seen on the elephant Airāvata in the upper right corner. He is naturally made small and dwarfish by the miraculous deed of Kṛṣṇa. This is comparatively a late painting and should be assigned to the 19th century.

60.118 UNDER THE UMBRELLA : Kṛṣṇa, Gopas, Gopīs and cows are seen standing under a pink umbrella. But this is not a Govardhana lifting scene and both human and animal kingdom feel happy under the gracious protection of their Master. This is later than the classical specimens.

36.262 RĀSA : The picture depicts the scene of Mahārāsa when Kṛṣṇa multiplied himself to dance with each Gopī in the moonlight. It is a remarkable piece to

study different musical instruments and costumes. Care has been taken to show only the light colour cloths suiting the moonlight.

57.25 RECEPTION WITH RUKMIṆI : The painting shows Kṛṣṇa's reception at home when he brought Rukmiṇi with him.

44.27 PĀRIJĀTA HARAṆA : The scene of Pārijāta haraṇa is painted in the picture. Accordingly Kṛṣṇa in four-armed Viṣṇu form is seated on his vehicle Garuḍa and carries a branch of the divine plant Pārijāta. He is accompanied by his spouse Satyabhāmā.[10]

34.248 GRACE ON DRAUPADĪ : The painting illustrates the episode of the removal of cloth of Draupadī by Duhśāsana. The upper left corner is occupied by the aged Dhṛtarāṣṭra. Below, Duhśāsana makes a futile bid to strip off Draupadī. To the right side are seen five Pāṇḍavas who sit helplessly after losing the game of dice. Bhīma is of course watching the action in revengeful attitude. Although Kṛṣṇa is absent yet his grace is functioning and protecting Draupadī through the constant lengthening of the robe and wicked Duḥśāsana is not able to fulfil his evil intention. This symbolic representation of Kṛṣṇa and his divine force is of considerable significance.

The second category of Kṛṣṇa paintings in the Lucknow Museum collection includes music scenes. Two specimens can be cited here.

31.236 Kṛṣṇa wearing usual yellow scarf, lower garment and Vaijayantīmālā, plays on flute and looks to a Gopī who is in dancing attitude. She is accompanied by two other ladies playing on percussion instruments probably Khanjarī and Ghaṭavādya. On our extreme right sits a male friend of Kṛṣṇa enjoying the music. The background shows undulating hilly region and the waves in the foreground may stand for Yamunā. The scene reminds us the Mughal court.

60.36 The painting shows Rādhā and Kṛṣṇa sitting on a couch under a white umbrella. The young couple seems to be gay and in loving mood. Behind them are seen two female attendants in service. In the foreground an old lady probably applies some ointment on the feet of Rādhā. Four ladies play on music. While one beats the Ḍholak, the other has a Sitār. The background of the composition shows a fountain and an ornamental canopy.

The third group of paintings portrays the figures of Rādhā and Kṛṣṇa. The important ones are :

35.258 Here young Rādhā and Kṛṣṇa are seen seated in a balcony made of marble screen. They look to each other and sit in profile. Wearing a yellow Kurtā and a princely headgear and pearled necklace Kṛṣṇa holds lily flowers in his right hand. Rādhā also wearing several necklaces places her right hand on the chin in thoughtful

attitude. Late Śri Rai Krishna Dās thought it to be the best portrait picture of Kāngrā Kalam.

41.65 The painting shows Kṛṣṇa giving away a garland to Rādhā who receives the gift with her folded hands. Other ladies sit in background.

38.273 Enjoying a close embrace Rādhā and Kṛṣṇa watch the flying ducks from the upper balcony of the house. A lady sits in a ground floor room while a peacock is pearched on the sunshed. There is a beautiful contrast of thick dark clouds and the flying white birds.

62.25 This is another beautiful portrait of Rādhā Kṛṣṇa. Standing in the favourite Tribhangī pose and playing on flute Kṛṣṇa affectionately looks at Rādhā who stands to his left and offers betel leaves or Pān Bīṛā. She holds a toilet box on her upraised left hand.

The fourth category of Kṛṣṇa theme paintings of Kāngrā School in Lucknow Museum shows Nāyakā—Nāyikābheda scenes. Efforts have been made to identify them on the basis of the couplets written on the back. Rādhā and Kṛṣṇa are seen in different attitudes and actions. These present a fine study of human behaviour and emotions.

REFERENCES

1. M. S. Randhawa, Kāngrā Paintings of the Bhāgavata Purāṇa, 1960, p. 34.
2. W. G. Archer, Indian Paintings in the Punjab Hills, 1952, p. 6.
3. The other important researchers are N. C. Mehta (Studies in Indian Painting, 1926), O. C. Gangoly (Masterpieces of Rajput Painting 1926), I. C. French (Himalayan Art 1930), Rai Krishna Das (Bharat Ki Chitrakala), W. G. Archer (Indian Painting in the Punjab Hills and Kangra Painting both published in 1952), Karl Khandalavala (Pahari Miniature Painting 1958) M. S. Randhawa (Kangra Painting of Bhagavata Purana 1960) etc.
4. Reference No. 1, p. 35.
5. Kālidāsa highlights these qualities in Raghuvanśa I.
6. यद् यद् विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश संभवम् ।। Gita X-41.
7. साहित्य संगीत कला विहीनः । साक्षात पशुपुच्छ विषाण हीनः ।। Nitisataka of Bhartrihari, verse 12.
8. Kāngrā Painting, 1952, p. 5.
9. Reference No. 1, p. 35.
10. Dr. Suresh Awasthi has informed me that Kṛṣṇa Pārijāta a folk opera is performed by a Muslim party of Bijāpur.

Rādhā offering betel to Kṛṣṇa, Kāngrā School, C. 18th cent. A. D.

Yamalārjuna Līlā, Kāngrā, School C. 1790 A. D.
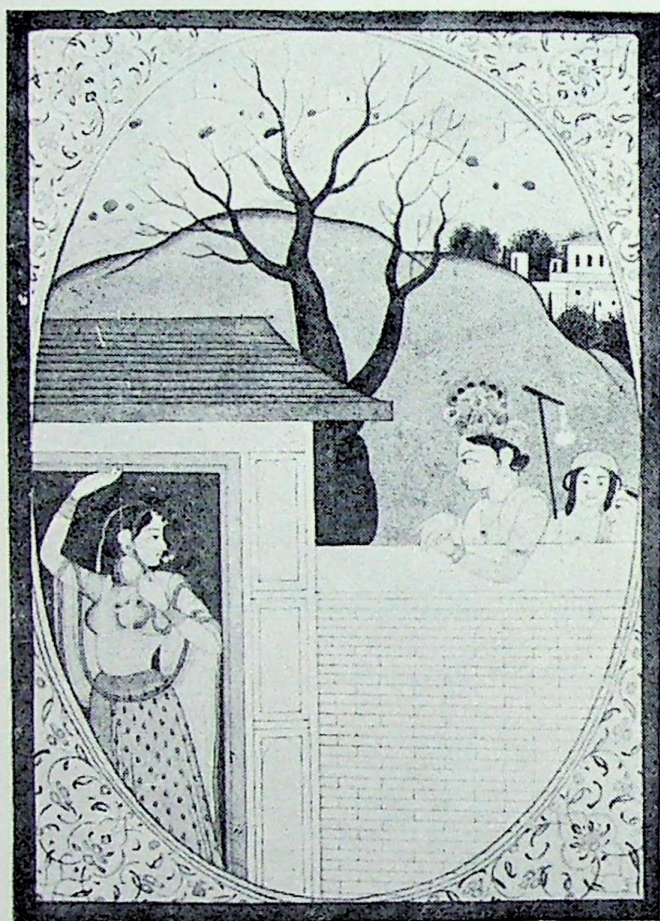
Rādhā-Kṛṣṇa, Kāngrā School, C. 18th cent. A. D.

AN ILLUSTRATED MANUSCRIPT ON KṚṢṆA LĪLĀ IN LUCKNOW MUSEUM

V. N. Srivastava

This small paper is aimed at reviewing briefly an illustrated manuscript in the collection of the State Museum, Lucknow, which incidently deals with the main theme of this Seminar.

The manuscript (No. 55.260) noticed briefly by Shri Naqvi in the first issue of the Museum Bulletin, is in two volumes but due to erroneous binding the last page of the first volume has been tagged up with the second part. There are sixty miniatures in all, 34 in the first and the remaining 26 in the second. Both the Volumes have ornamented colophones with gold work and their first two or three pages like-wise have gold based letterings written in Nastaliq characters. The entire text is versified in Hindustānī language with regional variations. Though the original title of the book is not known, the paintings and the tenor of the text mark it out as yet another version of the 10th canto of '*Śrimadbhāgwata* where the *Leelas* of Śrī Kṛṣṇa, are lucidly described and it would be convenient to call it '*Sukhsāgar*' by which name several other recensions and versions of the tenth Canto are known.

The author of the text is said to be one *Krishnadas* whose name occurs in so many couplets and it was transcribed (ulthā) by Pandit Totā Rām, a Kashmiri Brahmin of Lahore who undertook the work on the behest of Dewan Sohanāmal alias Chopra, a feudatory of some standing as is apparent from many titles preceding his name which occurs on the last page of the manuscript under review. The manuscript of which I have had only a superficial scrutiny is dated in Samvat 1902 obviously of Vikram Era which is equivalent to 1845 AD. The painter's name is not given.

It is difficult to identify Dewan Sohanāmal or the transcriber Pandit Totā Rām at

---

Sri V. N. SRIVASTAVA, Director, Government Museum, Almora.

this stage nor do we know for certain anything about the author of the original text, Krishnadās or the area the book comes from. But from the style of paintings, the language of the text and the name *Sohanāmal* alias Chopra etc., it appears to have originated from some princely state of North Western India.

The paintings of this manuscript are a class by themselves and though not so elevated, are nevertheless, reverberative of the great Pahari Style in technique and composition marked with purity, depth and feelings. The characters in the first few paintings are also named and the paintings follow almost the same sequence of events as set forth in the *Bhāgwata Purāṇa* though all the events have not been depicted. It must, however, be said to the credit of the unknown artist that he has endeavoured to interpret every picturised event in the light of his own experience. The first painting depicts *King Parikshita* listening to the discourse of *Sukhadeva* and the very second shows the birth of Kṛṣṇa. There is no scene of Prithivi going to Brahmā and receiving an assurance from the deity as in Bhāgwata Purāṇa, even though the main text of the manuscript does begin with that reference. In case of some of the other events also of which even early paintings are available, the artist has preferred to render them in his own way. The artist is so selective that a few of his compositions need to be scrutinized for proper identification.

The introductory part of the manuscripts under observation, begins with 'OM' scribled in Devanagrī and contains imploratory and beneficial verses in praise of the Supreme Being *Nārāyaṇa* and His manifestations and the necessity of absolute and entire surrender to Him.

As we all know Kṛṣṇa and his exploits exercised such a profound influence on the life and thought of India, that they have become a favourite theme of the artists. Sculptors, Potters, Bronze casters, Ivory makers and wood carvers all adopted this theme in their craft, early and permanent examples of which are available in fairly large numbers. Painters too gave them a very special favour. The impact of this facet of Indian religion was so great that even the Muslim rulers of the country got some of the important scriptures translated into Persian under their own patronage. We know of the famous illustrated Persian translation of Mahābhārata done in Akbar's reign and of the *Harivanśa* of the Mughal period, both works of very high quality. The present manuscript may be said to follow the same tradition.

'Sukhasāgar' of common parlence is in fact the name of the work of Baba Maluk Das and the poet described there in the various manifestations of the *Brahma*. It is not the composition of the 10th canto of 'Bhāgwatpurāṇa'. The credit of glorifying Kṛṣṇa and his *Leelas* goes to the saint poet Sūradāsa, who at the behest of Vallabhāçārya composed many a lucid poems on the theme in his well known compilation 'Sūrasāgar'. Chaturbhujdas, a contemporary of poet Sūradāsa was the first to translate the 10th
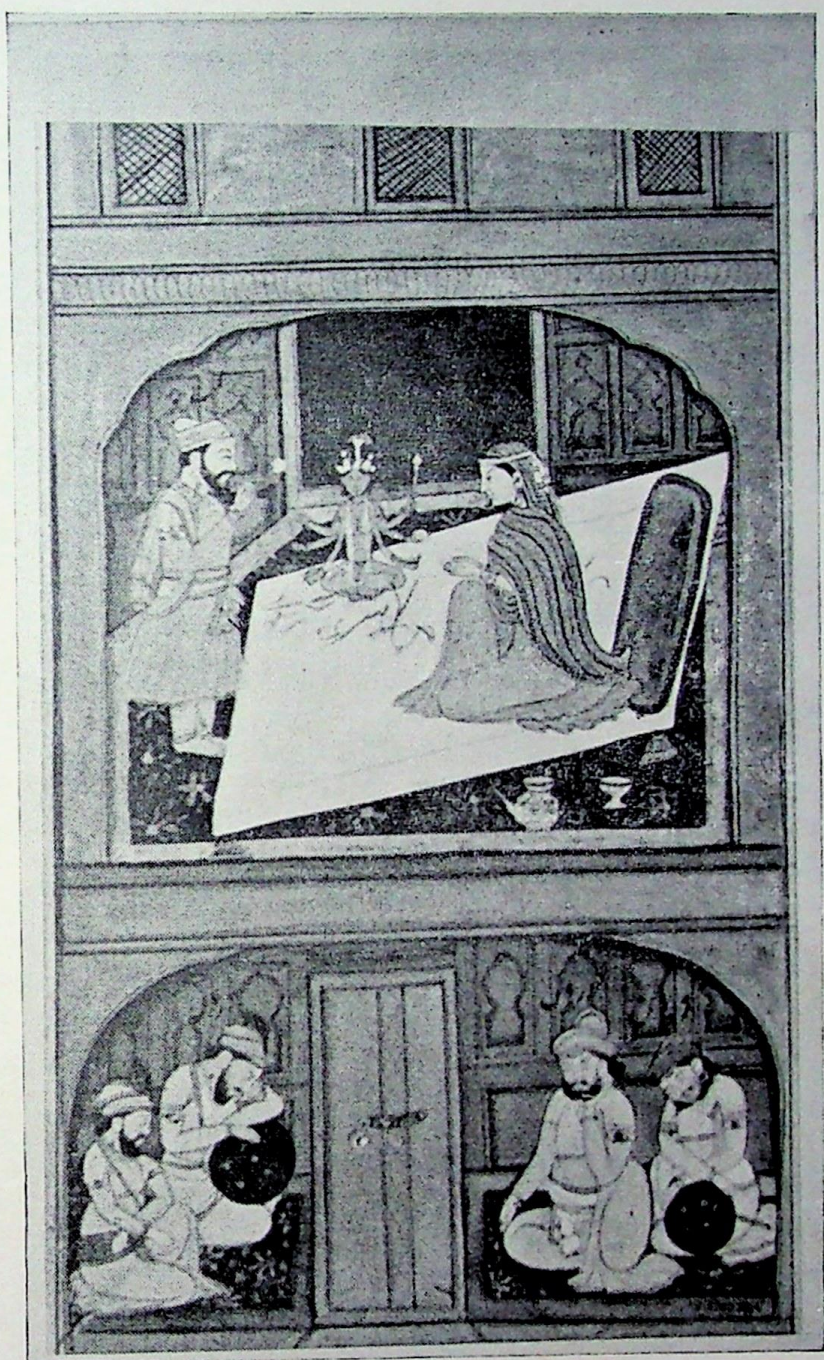
55.260 Illustrated page from Sukhasāgar

Canto of Bhāgwata in 'Brijabhāshā' and poetic form in AD 1510. It was also he who gave this translation the name of 'Premsāgar' which was later transcribed in prose by Dr. Lallu Lal Misra in about 1902 V.E. How the 10th Canto of *Shrimad Bhagwat* came to be known as Sukhsāgar we have no information. Perhaps some overzealous poet preferring great devotion to Śrī Kṛṣṇa and not satisfied with the title 'Premsagar' (the Ocean of Love) might have chosen the name of Sukhsagar (the Ocean of Bliss) for his own composition. Or it was the title known to *Krishnadas,* the architect of the original text of the present manuscript, who had entitled his work as *Sukhsagar* by which name almost all the recensions of the 10th Canto, both in prose and verse are known today.

Whatever be the case, this manuscript deserves a careful and deeper study both for its paintings and the text. Of added interest would be the scriblings on the margin specially on the last two pages of the manuscript with cluster of alternative couplets which appear to be work of the transcriber himself.

NOTE

There is a reference of its rendering in Urdu by one Makhanlal in 1903 A.D.

कृष्ण आकृतियों का स्वरूप निर्धारण

कृष्ण रूपं स भगवान्विधत्ते भूतभावनः ।
ब्रह्मर्णैव हरेः प्रोक्तं सर्वाभरणधारणम् ।।
बिभर्ति वक्षसा मानं कौस्तुभं विमलं हरिः ।
कृष्णा दीर्घा विचित्रा च वनमाला प्रकीर्तिताः ।।
यथा सर्वमिदं बद्धं जगद्राजंश्चराचरम् ।
अविद्या वसनं तस्य संसारपरिपालिनी ।।
विद्या शुक्ला विनिर्दिष्टा कृष्णमज्ञानमुच्यते ।
अज्ञानविद्या मध्यस्था त्वविद्या परिकीर्तिता ।।
न कृष्णा न तथा शुक्ला तेन विद्येयमुत्तमा ।
अन्तरालं विभर्त्येव सुवर्णकनकोपमम् ।।
मनस्तु गरुडो ज्ञेयः सर्वभूतशरीरगम् ।
तस्माच्छीवतरं नास्ति तथैव बलवत्तरम् ।।
दिशश्चतस्रो धर्मज्ञ तावत्यो विदिशस्तथा ।
बाह्वोऽष्टौ विनिर्दिष्टास्तस्य शार्ङ्गिणः ।।
बलं ज्ञानं तथैश्वर्यं शक्तिश्च यदुनन्दन ।
विज्ञेयं देवदेवस्य तस्य वक्त्र चतुष्टयम् ।।

विष्णुधर्मोत्तर—३/४६

MANUSCRIPTS RELATED TO LORD KṚṢṆA'S LIFE IN THE STATE MUSEUM, LUCKNOW

Shahir Mustafa Naqvi

The romantic and picturesque life of Lord Kṛṣṇa has been one of the most inspiring, fascinating and charming themes for the poets, writers and the painters of India in almost all the phases of its past glory. Kṛṣṇa as the cowherd lover, Kṛṣṇa as the prince, Kṛṣṇa as the hero, Kṛṣṇa as the preacher of ethical doctrines and finally as the Incarnation of Lord Viṣṇu—the Almighty God Himself, becomes the soul of a number of literary and artistic creations. These manifold aspects of his character manisfest them selves through these masterpieces of literature and art.

The earliest reference to Kṛṣṇa occurs in Chāndogya Upniṣad[1] that is assigned, though not very certainly, to 6th Century B. C. He has been described as a God by Pāṇini and Patañjali in the 5th and 2nd century B. C. respectively. The Ghosuṇḍī inscription (2nd cent. B.C.) is his earliest epigraphical reference[2]. The great Indian epic, Mahābhārata, dated tentatively in between 4th century B. C. and the 4th century A. D.[3] provides a detailed reference to Kṛṣṇa. Pali text Niddesh (4th cent. B. C.) mentions Vāsudeva. Vāsudeva was the central figure of a system of religion in 4th and 3rd cent. B. C. according to Bhandarkar[4].

The addition of Harivaṅśa in the 6th century A. D. brings forth the concealed details of Mahābhārata regarding the circumstances of his birth, his early life and youth and also the exact nature of Kṛṣṇa. Viṣṇu Purāṇa[5] (another text of the same period), Matsya Purāṇa, Agni Purāṇa, Kūrma Purāṇa, Brahmāṇḍa Purāṇa, Brahma Vaivarta Purāṇa etc. throw ample light over all the hidden aspects of his personality both as Vāsudeva and Kṛṣṇa. But the complete account of his life appears from a later text perhaps of 9th or 10th century A. D. entitled Bhāgvata Purāṇa. In this text one gets the

Sri SHAHIR MUSTAFA NAQVI, Registering Officer, (A. A. T.), Lucknow Region, HIG. 109, Aliganj Scheme, Lucknow.

account of the situation of Kṛṣṇa's birth, his love with the cow-girls, killing of the tyrant Kaṅsa, his marriage and the later events of his life. But out of all his love with the cow-girls becomes the most favourite theme for the poets of the later period. In Jaina texts too right from 783 A. D. (Jain Harivanśa Purāṇa[7]) we get his references.

Gita Govind of Jaya Deva, a Bengali poet of later 12th cent. A.D., deals with the Rādhā Kṛṣṇa theme. The period between 13th to 17th century was represented by the School of poets like Bilvamangala (Bāla Gopal stuti), Vidyapati, Chandi Dās, Mira Bai, Ballabhāçārya, which produced poets like Sūradās, Kṛṣṇa Dās, Parmanand Dās and Kumbhan Dās. They were followed by poets like Keshava Dās (Rasika Priya), Bihari Lal (Sat-Sai), Govinda Dās, Kali Dās etc.

After the 17th century Kṛṣṇa theme appears to be the most favourite theme for the painters of Kangra Valley, though we get Kṛṣṇa represented in paintings even earlier in the Persian, Mughal and Rajput styles of Paintings. The illustration of 10th canto of Bhāgwata Purāṇa in 1598 A. D. at Jaipur and also in 1610 A.D., the illustrated works like 'Gita Govind' which is in N. C. Mehta collection and Bhāgwata Purāṇa of Jodhpur State collection are a few examples[8]. Under Raja Sansār Chand (1775-1823) Kāngrā paintings open the new horizons in Indian Miniatures embellished with Kṛṣṇa theme which goes on to continue even afterwards. Most of the above mentioned works have generally been illustrated in these paintings.

Keeping in view the above brief account of the popularity of the Kṛṣṇa theme through different ages one may easily peep into different episodes of Kṛṣṇa's life. In India the earliest manuscripts are on Palm leaf dateable to 10th century A.D. while paper manuscripts were produced later on roughly about the 14th century A. D. In the State Museum, Lucknow, the collection of the manuscripts ranges between 16th century to 20th century A. D.

The manuscripts related to Lord Kṛṣṇa's life may be classified into two heads (i) Persian and Urdu manuscripts and (ii) Sanskrit and Hindi manuscripts. Here the Persian and Urdu MSS will be discussed first. The Persian manuscripts dealing with Hindu theme were being written in the 16th century A. D. During the reign of Akbar Hindu texts like Rāmāyaṇa and Mahābhārata were translated into Persian. Mahābhārata was abridged in Persian and was named as Razmnāma (Book of Wars), which has got preface written by Akbar's biographer Abul Fazal and its calligraphist was Naquib Khan. In the later period books with Kṛṣṇa theme were written in Persian and Urdu as the collection itself shows.

In Persian there are the following manuscripts on this subject in this Museum.

1. *Illustrated Manuscript of Hari Vanśa (No. 57.106)*[9] :—The text of this manuscript shows the circumstances of Kṛṣṇa's birth and gives the account of his family lineage,

Though it has often been treated as Khīlaparva or the tail chapter of Mahābhārata, very often the independent volumes of this text are also found. This manuscript does not appear to be that of the complete text of Harivanśa but certain extracts have been translated from the original Sanskrit text into Persian and have been arranged in such a manner that their continuity as a story is not broken. The name of the scriber appears nowhere on the collophone or on any of the pages of the manuscript. In Ain-e-Akbari[10] we get the reference 'Haribas' (Harivanśa) being translated by Maulana Sheri into Persian. Rai Kṛṣṇa Dās[11] also refers to it being translated by Mulla Shīrīn under Akbar after the Bhārata (Mahābhārata). It would be an interesting point to discuss that the manuscript of Harivanśa in the State Museum collection is no other than one referred above in Ain-e-Akbari. The bulk of this manuscript with 6 paintings of Akbari period and 3 paintings of later Moghal period is housed in State Museum collection. One illustrated page is with Bharat Kala Bhawan, Varanasi. A few pages[12] of the same manuscript are reported in some British and American collections but it cannot be said precisely that they are of the very manuscript unless their measurements of formats and paintings are not tallied with each other. The evidences which go in favour of assigning the status of being the original 'Harbās' of the royal artelier to this manuscript are not very positive but are conclusive. At the first place in most of the works of calligraphy we get only collophone, last page and two or three pages succeeding it illuminated with 'Lauha' or golden backgrounds but the typical manuscripts made for the Moghal Emperors are full of golden background. In this manuscript also we get all the pages with golden background for each and every line. This illumination certainly lifts it to the royal heights. The style of calligraphy is a very chaste and symmetrical Nastālique. The size of the format is 35×22 cms. The text area is 23×13.5 cms. There are in all 408 pages in this manuscript including nine paintings. Out of these paintings six are some of the masterpieces of late Akbar period (C. 1600 A. D.) and three are the ordinary compositions of later Moghal style (C. 18th cent. A. D.) or even upto 16th century A.D. The details of the illustrations are as follows :—

1. Mātā Bāgeshwari (Durgā on lion) and Hanumān. Later Moghal, size 23.5×16 cms.

2. Balrāmā dragging Yamunā by his plough. Moghal—Late Akbar Period, size 30.5×16 cms.

3. Kṛṣṇa (Viṣṇu?) slaying a demon probably Kāla Nemi. Moghal—Late Akbar Period, size 33.5×21.5 cms.

4. Burning of Kāla Yavana. Moghal-Late Akbar Period, size 30.7×20 cms.

5. Keśi Vadha (Slaying of Horse Demon Keśi). Moghal—Late Akbar Period, size 30.5×19.5 cms.

6. Kṛṣṇa slaying a demon. Moghal—Late Akbar Period, size 31.5 × 19.5 cms.

7. Kṛṣṇa (Viṣṇu-Trivikrama) and King Bāli. Moghal—Late Akbar Period, size 30.5 × 21.2 cms.

8. Rama and Lakshmaṇa fighting Ravana. Later Moghal, size 22.2 × 13.2 cms.

9. Dwarikanāth (Kṛṣṇa). Later Moghal, size 22.2 × 13.2 cms.

Another ground that goes in favour of its identification as the royal copy is that it was purchased in 1957 from a local dealer of Agra. It may be surmised that the said copy remained in some old Moghal family at Agra and was perhaps acquired by the dealer who in turn sold its various parts to the willing buyers but the lion's share came to State Museum collection. The manuscript under reference is incomplete as may be noticed by the missing serial numbers on the pages but is very important being the only copy of illustrated 'Haribās' of Akbar period known so far.

2. *Manuscript of Mahābhārata in one Volume* (No. 54.15) :—In this volume of Mahābhārata the calligraphist Nasib Khan (whose name appears at the end of the manuscript) has translated certain portions from Mahābhārata into Persian. It begins from Virāta Parva and it ends at Swargārohaṇa Parva. The writing is in the Khate Shikasta and may be assigned to the 17th century A.D. on the basis of the calligraphic evidences. At the end of the manuscript certain *Dohās* of Kabir and Rai Das have also been given which appear to be the later additions.

3. *Unillustrated Manuscript of Mahābhārata in two Volumes* (No. 55.250 a and b) :— Unlike the above mentioned Mahābhārata on these volumes the name of the calligraphist or the translator is conspicuous for its absence. It also starts from Virāta Parva in the first volume and ends at the 10th Chapter i.e. *Sauptik* Parva in the second volume. Thus it also appears to be an extract of Mahābhārata and not the complete text. The style of calligraphy is Nastālīque which is a later development over Naskha style of writing and may be placed in the 18th century A. D. on the calligraphic grounds though not with much certainty as the date does not appear anywhere over the text.

In Urdu, like Persian, one gets the Hindu texts either translated or even certain original works are also available. The Urdu (actually Hindi in Nastālīque characters) manuscripts of the museum's collection related to Kṛṣṇa theme may be discussed as follows :—

Sukhsāgar or Kṛṣṇa Lila Illustrated (*No. 55.260 a and b*) :—On this manuscript (which is in two volumes) the name of the calligraphist Totā Rām appears. He calls himself a Kashmiri Brahmaṇa. The manuscript was prepared for a noble man whose name and alaises being Sohana Mal Chopra are given at the back of the volume two. It is a narrative anthology originally composed by Kṛṣṇa Dās. The date of its composition also

appears at the back being Vikram Era 1902 (1845 A. D.). Both the volumes contain 1004 pages with 59 illustrations and two ornamental Lauha (the architectural designed illumination). Its language is Hindi with Kashmiri influence but script is Nastālīque. The paintings are in degenerated Pahāri style of early 19th century A. D.

Srimad Bhāgwata in Urdu (51.12) :—It is an incomplete manuscript as the concluding chapters are missing. The name of the calligraphist or translator is nowhere given on the manuscript. Its script is Nastālīque and may be assigned to early 19th century A.D.

Besides these, there are a number of Sanskrit and Hindi manuscripts in Devanāgri script related to Kṛṣṇa theme in the State Museum, Lucknow, collection. Out of these the following may be discussed here :—

The roll manuscript of Srimad Bhāgvata (56.367) :—The length of the roll is 1875 cms. Its script is early Devanāgri of 18th century A.D. The most striking feature of this manuscript is its minute letterings which the skilled calligraphist very carefully scribes without a single cutting or over-writing and is legible only from a very short distance. This roll may be regarded as one of the masterpieces of the art of manuscript writing. It has got fifteen illustrations which are dateable in the 18th century A.D.

Srimad Bhāgvata:—It contains the second Adhyāya (chapter) of Srimad Bhāgwata. There are 40 paintings in this manuscript. The style is Oriya and same are the characters. It is assignable in late 17th or early 18th century A. D.

There are three loose pages of Srimada Bhāgavata in the collection in Devanāgri script. Out of these one of the pages (56.377) depicts Yajna ceremony. The red colour dominates in this Rajasthani book illustration. The other page (56.378) where prominence is of the green colour has the painting which shows Kṛṣṇa fighting. A third page (56.380) reveals Kṛṣṇa and Baldeo with an elephant perhaps Kuvalayapīda. All of these pages have got the paintings in Rājasthanī style and may be assigned to 18th century A.D.

Srimad Bhagavata Gītā (57.28) :—It was prepared for a nobleman named Daya Ram. The name of its calligraphist is Gumāni Ram. It has got thirty illustrations in Pahāri style. The manuscript as well as illustrations may be assigned to 18th century A. D.

In Hindi written in Devanāgri script there is only one manuscript related to this theme. Its title is Kṛṣṇa Līlā (56.1). Its title 'Līlā Lalita Vinod' is more accurate as revealed by its collophone. It contains 116 water colour paintings probably of Awadh school of late 18th century A.D. It was completed in Vikram Samvat 1835 (1778 A.D.). The subject matter is the same as has been discussed under Sukh Sāgar which seems to be a later work on the very theme of this manuscript.

With the detailed study of the above manuscripts one can infer the significance of Kṛṣṇa theme and its growing popularity among the masses. These are not merely the

religious texts but have good bearing on the social, cultural and artistic activities of the period between 16th to 19th century A.D. Their text and the illustrations reflect the artistic imaginations and poetic fancy of the painters and poets of the period concerned. Besides, new visions of literary and calligraphic activities are open before the viewer. For example Sukh Sāgar is written in Hindi language but in Nastālīque script because the masses knew mostly the Nastālīque script in which they read Persian and Urdu. But Devanāgri script was also prevalent among some of the selected few as is evident from an earlier manuscript of Kṛṣṇa Līlā. These works still have an appeal among the masses.

REFERENCES

1. Archer, W. G., 'Love of Kṛṣṇa' (George Allen, and Unwin Ltd., London, 1957) p. 11.
2. Joshi, N. P. 'Balarāma in Iconography' (Abhinav Publication, New Delhi–1979) pp. 20-21.
   Another epigraphic record that refers Vāsudeva is the Mora (District Mathurā) inscription which mentions Bhāgwat Vṛṣṇi Paṇchaviras (Ibid).
3. It is yet a contraversial issue. Archer in the above cited work, p. 11, places Mahābhārata in the period referred here. The writer of these lines himself does not fully agree with this date in view of recent archaeological findings by Sankalia and others.
4. Joshi, N. P. 'Balarāma in Iconography' p. 19. He has quoted this reference from Bhandarkar's 'Vaiṣṇavism' p. 3 and Lokdharma p. 6, fn. 1.
5. Ibid, pp. 12-14. Also Pandey, R. K., 'Concept of Avatars' (B. R. Publishing Corporation Delhi, 1979) p. 2.
6. Archer W. G. 'Love of Kṛṣṇa' p. 125.
   Also Gupta, S. M. 'Viṣṇu and His Incarnations' (Somaya—Bombay, 1974) p. 12.
7. Joshi, N. P. 'Balarāma in Iconography' p. 5.
8. Dwivedi, V. P. 'Bhartiya Chitrakala Aur Kṛṣṇa Kāvya' 'Vishambhara' p. 74.
9. Naqvi, S. M. 'Persian and Urdu manuscripts related with Lord Kṛṣṇa's Life in the State Museum, Lucknow'-(Bulletin of Museums and Archaeology in U.P., Lucknow No. 2–December 1968). In this article the manuscript under reference along with few others were published by the writer of these lines. A second revised and more careful examination of this manuscript revealed that the name of scriber nowhere appears on the manuscript and my earlier reading of the name as 'Shukar Dad' was a hasty reading of 'Shagirde-oo' which has no relevence in the present context. I stand corrected and regret the earlier reading through these lines. The nameof the calligraphist or the painter is cospicuous for its absence on this manuscript unlike other famous Mughal manuscripts.

10. Blochman, H. 'Ain-i-Akbari' English Translation—(Biblothica India—Culcutta, 1977) p. 112.
'The Haribas, a book containing the life of Kṛṣṇa was translated into Persian by Maulana Sheri (Vide the poetical extracts of the second book').

11. Das, Rai Krishna, 'Bharat Ki Chitrakala' (Leader Press Allahabad—V. S. 2017-1960) p. 79.

12. Dr. Ananda Krishna estimates the number upto fifty. He himself had shown a film—slide depicting 'Govardhana Dhāri' perhaps housed in the Metropolitan Museum', New York.

ICONOGRAPHY OF VIṢṆU

अर्चायां कारयेद्देवं चित्रे वा पुस्तकर्मणि ।
देवदेवं तथा विष्णुं कारयेद्गरुडस्थितम् ॥९॥
कौस्तुभोद्भासितोरस्कं सर्वाभरणधारिणम् ।
सजलाम्बुदसच्छायं पीतदिव्याम्बरं तथा ॥१०॥
मुखाश्च कार्याश्चत्वारो बाहवो द्विगुणास्तथा ।
सौम्यं तु वदनं पूर्वं नारसिंहं तु दक्षिणम् ॥११॥
कापिलं पश्चिमं वक्त्रं तथा वाराहमुत्तरम् ।
तस्य दक्षिणहस्तेषु बाणाक्षमुसलादयः ॥१२॥
चर्म सीरं धनुश्चेन्द्रचापेषु वनमालिनः ।
कार्याणि विष्णोर्धर्मज्ञ··· ··· ··· ॥१३॥

वि० ध० ३,४५,३३७

KṚṢṆA THEME IN ORISSAN SCULPTURES

H. C. Das

The cult of Viṣṇu as the Lord of Universe reaches its culmination in Kṛṣṇa who is fully human and yet fully divine here. He is born, grows up, fights, marries, loves and finally dies like human being and at the same time exhibits his miraculous feats as God. The versatile personality of this great culture-hero or builder has influenced the history, literature, art, folk-culture, paintings etc. in a way that no other incarnation of God has so convincingly imprinted on Indian Mind. On account of its own glamour, the Kṛṣṇa cult is a point where various cults converge. In support of this statement of Dr. Sukumari Bhattacharji is attracted here. "Various cults with theriomorphic gods prevalent among pastoral people, perhaps with totemic worship of the ass, the bull, the snake and the elephant, the indigenous people's dendrolatry (symbolized perhaps by the Yāmalārjuna episode, as Mackary suggests), ophiolatry (as symbolized by Kāliya), ornitholatry (as perhaps symbolized by Sakuni) are all crushed by the rising cult of Kṛṣṇa. The people's faith in various kinds of demons had to be canalized, Kṛṣṇa the solar god had to be shown as vanquishing the forces of darkness. Through these feats the new god was presented as supreme in power and rank. Vegetation-worship, and beast-worship, the dark and fearful cults of ghost and demon worship, all bowed to this new manifestation of the solar god.[1]

The miraculous feats of Kṛṣṇa connected althrough his life history such as, fighting and subjugating the demons and the Nāgas, Indra, the king of the gods, uplifting the mountain Govardhana on tip of his finger, his dominion over the animal and vegetable worlds, his alliance with sixteen thousand *gopis*, fancifully multiplying himself into similar number, his role as statesman, warrior and politician in the battle of Kurukṣhetra, a prophet and the builder of a united Bhārata Varśa, indicate his acme and superiority over the then existing cults and popularity in the general mass irrespective of castes and

---

Dr. H. C. Das, Superintendent of Museums, Bhubaneswar, Orissa.

creed. The Bhakti cult centreing round Kṛṣṇa-Vāsudeva, Viṣṇu-Nārāyaṇa, inculcated essentially the manotheistic view which is clearly marked in the Mahābhārata and in the Purāṇas.

It is really a baffling problem as regards the date of origin of Vāsudeva-Kṛṣṇa or Kṛṣṇa cult. Kṛṣṇa cannot be taken merely a legendry figure but a most distinguished historical personage. Some scholars on the basis of Jaina tradition date back the origin of Kṛṣṇa to 1000 B. C.[2] (Kṛṣṇa having preceded Pārśavanātha-817 B. C.). Kṛṣṇa in Vedic literature is both a seer and Non-Aryan warrior. In the *Taitariya Araṇyaka* Nārāyaṇa, Vāsudeva and Kṛṣṇa are identical characters and depict three aspects of the same God. According to *Chāndogya Upaniṣad* Ghora Āngirasa, a teacher, taught Kṛṣṇa righteous conduct. But in Mahābhārata and Purāṇas Kṛṣṇa is depicted as Supreme God bearing the appelations of Kṛṣṇa-Vāsudeva, Bhagavāna, Hari, Keśava, Govinda, Janārdana. Thus Kṛṣṇa with his mythical origin in the hoary past bacame a historical personage, a culture-hero and Avatāra and the metaphysical aspects of the Vaiṣṇava doctrine.[3]

The Besangar Pillar[4] Insc. L (2nd B. C.) of Heliodorus, one of the earliest archaeological evidences on the worship of Vāsudeva-Kṛṣṇa, refers to Garuḍadhvaja erected in honour of Deva Deva Vāsudeva. The Nāgarī Inscription[5] apparently of the same period near Chitor records the king Parasāriputra Gajāyana who was a devotee of Bhagabān (Vāsudeva) erected the stone enclosure known as Nārāyaṇa Vātikā for the unconquered lords, Vāsudeva ānd Saṇkarṣaṇa. An inscribed sculpture at Malhar (1st century B. C.) in Bilāsapur District of Madhya Pradesh worshipped as chaturbhujī Bhagabān with four hands, front two shown in the *namaskāra* pose, the other two lands holding the *Çakra* and *Gadā*. The inscriptions and other archaeological evidences at Mathurā and its environs indicating the worship of Vāsudeva at Mathurā during the rule of the Mahākṣhatrapa[6] throw adequate light on the early history of the Kṛṣṇa-Vāsudeva cult in the Central and Northern India.

Orissa for her peculiar geographical location had in the past the opportunity of embracing the cultural waves of the North and the South. As a result the main stream of Indian religions, such as Jainism, Buddhism, Śaktism, Śaivism, and Vaiṣṇavism flourished here for centuries under the benign patronage of illustrious monarchs leaving behind a galaxy of monuments and a rich cultural tradition. When the northern part of the country upto Bengal was ravaged under the frequent attacks of the Muslims, losing most of the magnificent monuments, Orissa maintained her political sovereignty and economic prosperity (till 1568 A. D.). The catholicity, religious acclecticism and unstinted patronisation of the monarchs flavoured all religions to develop finally converging in the cult of Jagannātha.

The impact of Kṛṣṇa Viṣṇu cult on the cultural heritage of Orissa is immense. It has greatly enriched the literature, sculptural art, painting and folk religion. All scholars unanimously ascribe the recession of the popular cult in Orissa to the early century of the Christian era.[7] According to Hāti-Gumphā inscription (1st century B. C.), Mahāmeghavāhana Khāravela patronised all religious thoughts and caused the repair of Brahmanical sanctuaries (sarva devāyatana Saṁskārakāraka). This reveals that Viṣṇu, a prominent Vedic god, was propitiated by the then Hindūs of Orissa. It is an established fact that Vaiṣṇavism embarked upon a new phase of development under the illustrious Guptas. The Kṛṣṇa Cult must have penetrated into the religious arena of Orissa during the Gupta Age, but unfortunately the monuments of this period did not withstand the vicissitude of time. The Ningondi copper plate grant of Prabhanjan Vermā of Māthara Dynasty (4-5th century) (Orissa) indicates that he accepted Vaiṣṇavism and erected a temple for Viṣṇu.[8] (Bhagabat Swain Nārāyaṇa Padanudhya) almost all the kings of this dynasty were devotees of Viṣṇu. The Viṣṇu temple on the top of Mahendragiri mountain is assignable to the Māthara dynasty. A beautiful image of four-armed Viṣṇu of chlorite stone now seen amidst the archaeological remains of the place was originally enshrined in the temple. Since then the cult of Viṣṇu continued to flourish in multilinear dimensions exhibiting various manifestations of Viṣṇu such as, Mādhava (Viṣṇu), Daśāvatāra, Gopīnātha (Kṛṣṇa, popularly known as Gopīnātha in Orissa), Vāsudeva, Saṇkarṣaṇa, Ananta and their *saktis*, and various scenes from the life history of Kṛṣṇa. The cult reached its culmination during the illustrious Gaṅga epoch (12th to 15th century A. D.) when Vaiṣṇavism became the State religion with Jagannātha as the Rāṣtra Devatā.

The earliest illustration of Kṛṣṇa's feat of killing Putanā is seen in the temple of Siṁhanāth (7th century A. D.) on the river Mahānadi in the district of Cuttack. The female monster Putanā is shown in emaciated body, bulging teeth, suckling the baby Kṛṣṇa on her lap. Kṛṣṇa is joyously sucking the life out of her. Putanā in her terrific appearance looks like Chāmuṇḍā.

Kāliyadalana (trumpling the snake king Kāliya), an important event in the life of Kṛṣṇa, finds expression in the temple walls. The story runs that the water of the river Yamunā was poisoned due to the venoms of Kāliya and his family. People were afraid of using the water of the river. Kṛṣṇa in order to rid the river of its poison jumped into it to the consternation of the cowherd boys. Being afraid of his life the cowherd rushed to inform Balarāma, the elder brother of Kṛṣṇa who knew the divine powers of his younger brother. Kāliya encoiled Kṛṣṇa inside the water emitting poisonous fumes. Balarāma conscious of Kṛṣṇa's divine power asked him to exercise his feats. Having been reminded of his divine power uncoiled himself from the Snake and stood

dancing on the hood of Kāliya. The queens of the serpent king were afraid of the miraculous power of Kṛṣṇa and implored Him to spare the life of her husband. He was pleased at the prayers and agreed to spare the life of their husband if they would leave Jamunā. A sculptural panel preserved in the Orissa State Museum (Ill. No. 1) depicts the last part of the story. Kṛṣṇa is seen dancing ferociously on the body of Kāliya who alongwith his queens is praying to God with folded hands in consternations. The background shows water with lotus stalks and flowers while at the back Nārada is playing on his Veeṇā behind the Kadamba tree. The find-spot of the panel is not known. But stylistically this can be assigned to a period contemporary to the Paraśurāmeswar temple at Bhubaneswar (c. 17th century A. D.). Another scene of Kāliyadalana depicting Kṛṣṇa dancing on the hood of Kāliya is noticed in the ruined temple of Māṇikeswara (17th cent. A. D.) at Sukleswar in the district of Cuttack.

The lifting of mountain Govardhana sheltering the people from the heavy storm and rain is another miraculous feat exhibited by Kṛṣṇa. When people accepted Kṛṣṇa as their God, Indra, the God of rain, being deprieved of peoples attention to him, brought storm and heavy downpour flooding the country side for many days. People at such a critical situation realised that the cloud burst was due to their neglect in the worship of Indra. In order to save the men and beasts Kṛṣṇa lifted the mountain Govardhana and sheltered the people from rain. For this feat Kṛṣṇa came to be known as Govardhana-dhārī.[9] This interesting account of Kṛṣṇa fighting Indra to save men and beasts is only a record of his superimposition on the cult of Indra. The four-armed figure of Kṛṣṇa is in *tribhanga* pose in the Chateswar temple (1220 A. D.) in the district of Cuttack holding a flute in his two lower hands and lifting Govardhana mountain with his two upper ones and another panel in the Nātamandap of Sri Jagannatha temple of Puri lifting the Govardhana mountain by Kṛṣṇa on his little fingure, highlight the theme very interestingly. The theme of stealing butter by the baby Kṛṣṇa from the milk-pot churning by Yaśodā has been beautifully depicted in the temple of Lingarāj. The mother while churning is smilingly enjoying her baby's childlike feat. Nandarāja is seen enjoying the scene to his full satisfaction. The temple of Ananta Vāsudeva (1278 A. D.) enshrines in the sanctum the figures of Balarāma, Kṛṣṇa and Subhadrā. The sculptural panel of Vastraharaṇa from Somanāth temple of Viṣṇupur near Nimapara in Puri district now preserved in the Orissa State Museum (Ill. No. 2) illustrates Kṛṣṇa's feat. He is seen playing on flute on the branch of Kadamba tree while six naked Gopīs are trying to cover up their open breasts and the genital organs by their hands and looking embarrasingly towards Kṛṣṇa. Below them the river Yamunā is depicted with the wavy water, tortoise, fish, alligator and snake. Another panel from the same temple now seen in situ illustrates Kṛṣṇalilā iṇ *aṣtadala padma* (eight-petalled lotus) (Ill. No. 3) with Gopīs singing and dancing

merrily and Kṛṣṇa in the centre in the pose of playing flute. These two panels in chlorite cists represent the flowering of Gaṅga art (13th century A. D.).

The cult of Gopīnātha (adult Kṛṣṇa), the eighth incarnation of Viṣṇu, gained wide celebrity and popularity in sculptural representation (in Orissa) from the 12th century A. D.[10] although there is profuse description of the image in the literature of earlier period. Here it may be mentioned that the numerous images of four-armed Viṣṇu were widely current in Orissa from 9th-10th century A. D. Due to influence of Srimad Bhāgavata and Sri Gita Govinda the cult of Gopīnātha and Kṛṣṇa-Viṣṇu (joint figure) became very popular in Orissa. The composite figure of Kṛṣṇa and Viṣṇu (Ill. No. 4) with upper two hands in the pose of playing the flute standing in *tribhanga* associated with *Aṣtagopīs* and cattle (the characteristic feature of Kṛṣṇa) indicate the amalagamation of two cults at a time when Vaiṣṇavism became the state religion of Orissa. We have in Orissa four such images—one in the collection of Orissa State Museum, two at Puri and the other at Jeypore in the district of Koraput. The four-armed life size Kṛṣṇa-Viṣṇu image of Orissa State Museum (collected from Dharmasala of Cuttack district) holding *Çakra* in upper right and *Śaṅkha* in upper left, lower two hands playing on a flute, standing in *tribhanga* pose associated with Kadamba tree overhead forming a *chhatra*, Daśāvatāra figures in miniature form, Naranārāyaṇa, Aṣta Gopīs and cattle decked with *Kiritamukuta*, *upabita*, *banamālā*, waist ornaments, drapery in needle work fineness, is one of the finest specimens of the cult ever discovered from the State. The other Kṛṣṇa Viṣṇu images contemporary to the above one bear more or less the same characteristic features. As regards this composite image some scholars view that these represent the transitional phase in the development of the cult of Gopinath.[11] But according to some other scholars[12] Kṛṣṇa-Viṣṇu image represents the amalagamation of two cults. In this connection the view of Sri D. Panda is attracted here. "In the 13th century Vaiṣṇavism was at the apex of its glory and the view of the scholars that the cult of Viṣṇu was at a waning stage is not tenable. Diffusion and *assimilation* of cultural traits are the processes of history. Hence I am of the opinion that the composite figure of Kṛṣṇa-Viṣṇu represents a trend of fusion or assimilation. Moreover the cult of Viṣṇu was further accentuated in association with characteristic features of Kṛṣṇa. In the similar way we may mention the composite figures of Ardhanārīsvara, Umā-Mahesvara, Laxmī-Nārāyaṇa which represent the fusion of two cults".

The inscriptional evidences with regard to Gopīnātha or Kṛṣṇa are available in different parts of India from 12th-13th century A. D. According to an inscription found at the Maharaja College of Vijayanagaram in Andhra Pradesh an image of Gopīnātha was enshrined in 1282 A. D. by one Lakhan Pati Ray.[13]

The Ajaygarh stone inscription of Nana (1287 A.D.) furnishes the following picture of Gopīnātha :—

आखेट नर्म-चकितं विदधद्धरिर्वो
गोपी-कठोर-कुच-कुंठित-शायक-श्रीः ।
कामातुरोत्तर-कुरङ्ग-वधू-विलासान्-
निघ्नन् कुतूहलतया धियमातनोतु ॥

Although Gopīnātha was accepted as a cult from 12th Century A. D. the sculpture of the same came into *gamort* of temple architecture from the earlier period. A miniature image of two-armed Gopinātha in the pose of holding the flute is noticed in the temple of Rajarani at Bhubaneswar (11th century A. D.) (Ill. No. 5). The images of Gopīnātha so far discovered in Orissa correspond to the Dhyāna of the Gopāl Sahasranāma[14] :

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसं प्रियं
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुमधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गो-गोपसंघावृतं
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥

For popularisation of the cult several Gopīnātha temples were erected in Orissa. It was during this time the construction of Gopīnātha temple at the outskirt of every Brahmin Sāsan was considered enviable. In course of time many a such temple are lost to oblivion leaving only the images now kept in newly built temples or in the ransackle houses. The image of Gopīnātha now popularly known as Khirachora Gopīnātha at Remuna near Balasore town was enshrined in a temple by Narasingh Dev II (1278-1307 A. D,). The Alarpur copper plate of Narasingh Dev II[15] refers to the construction of 3 Gopīnātha temples by the king in the village Hirapur and Sarakana in the district of Puri. Of the various Gopīnātha images and temples so far discovered mention may be made of Gopīnātha temple at Kakudia on Daya valley (image lost), Gopīnātha image in Dandamukundapur and Rathijema Sāsanas, Sovaneswar temple at Alagum with an enshrined image at Gopīnātha, near Jajpur and another at Malatira near Bhadrak and the famous Sakhigopal image at Satyavadi.[16] In addition to these the Orissa State Museum preserves 5 Gopīnātha images, all in chlorite cist collected from the coastal area. Of these the image of Dharmasālā standing in *Tribhanga* (4'×2') associated with Kadamba tree at the top Asthasakhis in 4 pairs, the flying Gandharvis and musicians, cattle, deer and ferocious tiger in the rampant pose and another life size image (5'6''× 3'2'') from Puba Sasan of Puri district bearing the similar characteristics represent the flourishing art tradition of Orissa.

Leaving aside the sculptural representation a vast literature has centred round the life and teachings of Kṛṣṇa. The Mahābhārata, Harivaṁśa, the Viṣṇu and Bhramabai-

Ill. 1 Kāliyadalana, Orissa State Museum, Bhubaneswara.

Ill. 2. Vastraharaṇa, 13th–14th cent. A. D., Orissa State Museum.
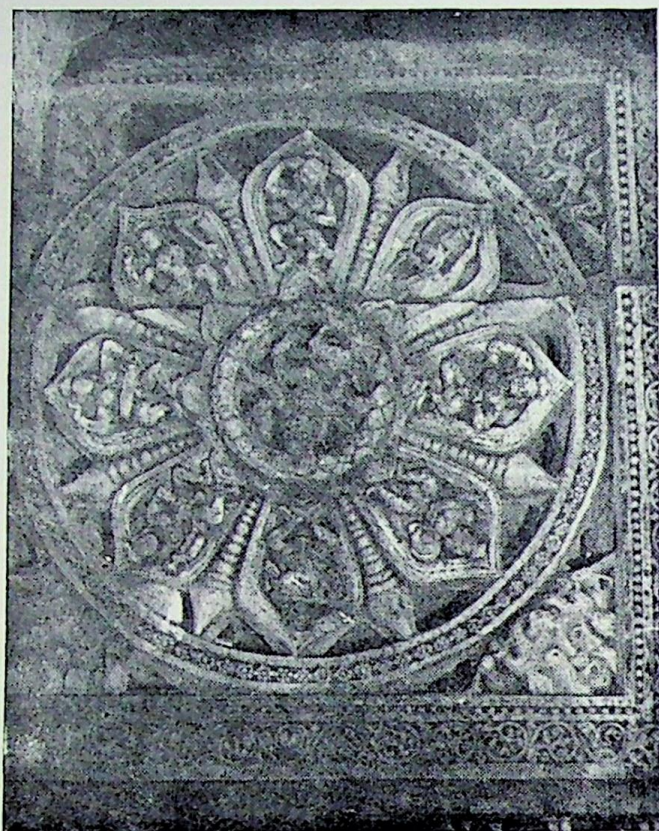
Ill. 3. Kṛṣṇa Līlā in Aṣtadalapadma in Somanātha temple, 13th cent. A. D. Viṣṇupur (Orissa).

Ill. 4. Kṛṣṇa-Viṣṇu in Orissa State Museum, Bhubaneshwara. 13th cent. A. D.

Ill. 5. Gopīnātha in Orissa State Museum, Bhubaneshwara. 12th cent. A. D.

barta Purāṇa and Srimad Bhāgavata with the entire Bhakti literature stemming from it dealing with different aspects of Kṛṣṇa's feats and doctrines constitute the most colourful thread in tapestry of Indian literature. The Orissa State Museum preserves hundreds of palm leaf manuscripts (including illustrative ones) dealing with Kṛṣṇa theme.

The short discussion tabled above is just a glimpse of Kṛṣṇa's themes in Orissan sculptures. The doctrine of devotion (Vakti) inculcated through Kṛṣṇa, the enshrinement of Gopīnātha in the temples, the depiction of his miraculous feats in the sculptural panels, Kṛṣṇa in music, dance, rituals in folk and written literature and his final embodiment in the cult of Jagannātha, his unchallanged supremacy over other cults and his infinite capacity as a culture-hero overwhelm the religious firmament of Orissa as elsewhere in India. The many faceted personality of Kṛṣṇa is thus well-reflected in the cultural heritage of Orissa.

REFERENCES

1. Dr. Sukumari Bhattacharjee—The Indian Theogony, p. 302.
2. R. K. Mukherjee--The flowering of Indian Art, p. 53.
3. R. K. Mukherjee— -do-
4. Dr. J. N. Banerjee—Puranic and Tantric Religion, p. 25-26.
5. Epigraphia Indica—Vol. XXII, p. 204.
6. J. N. Banerjee—Puranic and Tantric Religion, p. 28-29.
7. Sri K. N. Mohapatra—Puranic Stories in the Early Records and Sculptures of Orissa in Orissa Historical Research Journal, Vol. 10, No. 4, p. 59.
8. S. C. Behera—Rise and Growth of Vaiṣṇavism in Orissa in side lights on History & Culture of Orissa, p. 371.
9. Shakti, M. Gupta—Viṣṇu and His Incarnations, p. 30-31.
10. P. Acharya—On the worship of images of Radhakrisna in Souvenir of Sri Jayadeva 1968, p. 52-53.
11. Ibid—
12. D. Panda—Cult of Gopinath in O. H. R. J., Vol. XXIII, p. 98.
13. S. N. Rajguru—Historical background of Gopinath & Radhakrisna in proceedings of Orissa History Congress, Berhampur 1977.
14. S. N. Rajguru —Ibid—
15. E. I.—Alarpur copper plate of Narasingh Dev II, Vol. XXI, No. 3, pp. 17-24.
16. K. N. Mohapatra—Sri Jayadev O Sri Gitagovind (Oriya), pp. 176-177.

कृष्ण आकृतियों का स्वरूप निर्धारण

वासुदेवश्च भगवांस्तथा सङ्कर्षणः प्रभुः ।
प्रद्युम्नश्चानिरूद्धश्च बलाद्याः परिकीर्तिताः ।।
द्वाद्वौ भुजौ तु विज्ञेयौ प्रतिवक्रं महात्मनः ।
वासुदेवस्य करयोज्ञतिव्यौ सूर्यरात्रि पौ ।।
सङ्कर्षणस्य करयोस्तथा मुसललाङ्ग ले ।
प्रद्युम्नस्य तथा ज्ञेयौ चापबाणौ महाभुज ।।
अनिरूद्धस्य विज्ञेयौ चर्मखड्गौ विचक्षणैः ।
पुरूषप्रकृती ज्ञेयौ सूर्याचन्द्रमसावुभौ ।।
एते च वासुदेवस्य करे चक्रगदे मते ।
कालं च लाङ्गलं विद्धि मृत्युं च मुसलं तथा ।।
ताम्यां संकर्षणो रुद्रः कर्ष तीदं चराचरम् ।
प्रद्युम्नस्य करे वह्नेः शार्ङ्गं चापं च यत्स्मृतम् ।।

विष्णुधर्मोत्तर—३/४६

CONSERVATION REPORT

D. C. Mehrotra

Conservation is one of the most important aims of a museum. It is the primary duty of museum Director or Curator to see that the objects after their arrival to the museum are taken due care and are preserved in better conditions for the use by the posterity. To reach this goal the conservation work in the State Museum, Lucknow, was undertaken. This may also be stated that the museum laboratory received timely guidance from the National Research Laboratory and its worthy head Sri O. P. Agarwal. Many an object which could not be treated in the museum laboratory were sent to the National Research Laboratory for conservation.

In order to give impetus to the conservation work it has been decided to bring out the periodical reports in the pages of the Bulletin of Museums and Archaeology in U. P. The subject was initiated by Sri O. P. Agarwal, Head, National Research Laboratory for Conservation in the last number under the heading 'Conservation Problems in the Museums of Uttar Pradesh'. It the present issue a brief survey of conservation work is presented before the readers. Among the inorganic objects 21 Sculptures, 4 Terracottas, 32 Metal images, 14 Bidri objects, 1 Copper plate, 4 lacquer objects and 824 coins were treated. The organic objects which were given chemical treatment include 8 textile pieces, 2 wooden objects, 1 paper machae. Antitermite treatment was given to four wooden pillars obtained from Sitapur.

The objects treated at the National Research Laboratory include a wall hanging of textile, a Lahenga, two photo-prints, one terracotta and 4 Tibetan Thankas.

The museum laboratory has also concentrated in cleaning the marble and metal statues of foreign rulers which have recently been acquired for the Museum from distant places.

Sri D. C. Mehrotra, Chemist, State Museum, Lucknow.

Besides the normal work the laboratory staff periodically examines the different objects in the reserve collection and advises the curatorial staff in proper upkeep and maintenance of the antique collection. In view to arouse awakening in the conservation of our cultural heritage a few talks on the subject were also arranged. The Director of Museum, Sri R. C. Sharma, himself underwent an orientation course on conservation organised by the N. R. L. C.

The museum laboratory is not yet fully equipped to combat with all problems of conservation in the big institution like State Museum, Lucknow, and it is proposed to reorganise the conservation unit to make it a self dependent. It is hoped that through the kind co-operation of National Research Laboratory for Conservation it would be possible to augment the activities in the museum laboratory and also to give more attention to the objects whether in display or in reserve collection.

TREATMFNT OF COPPER COINS

A hoard of 65 ancient copper coins from village Palhari, Distt. Banda, U. P., was brought to the Museum Chemical Laboratory.

CONDITION OF THE COINS

Almost all the coins were highly corroded and completely covered with green and black salts of copper. Nothing was visible on them and the legends were covered with corrosion products (Fig. 1).

PRELIMINARY EXAMINATION

Before proceeding to the chemical treatment these coins were diagnosed for giving proper treatment. For this a small portion of incrustation, i. e., the corrosion product was detached from few coins and was chemically tested.

The acid redicals were found to be mostly chloride and partially carbonate and the metal was copper.

TREATMENT GIVEN

(1) Washing with hot water to remove earthly matter and the soluble salts.

(2) The coins were dipped in a 10 per cent solution of Sodium Sesqui carbonate. The solution was found to turn blue after a few hours. The next morning, the coins were thoroughly brushed under tap water and were replaced in the solution. The solutlon was changed after every third or fourth day and at the same time brushing and the mechanical cleaning was also performed. The process continued for about six weeks and the solution was changed at intervals for testing and

Copper coins before treatment.
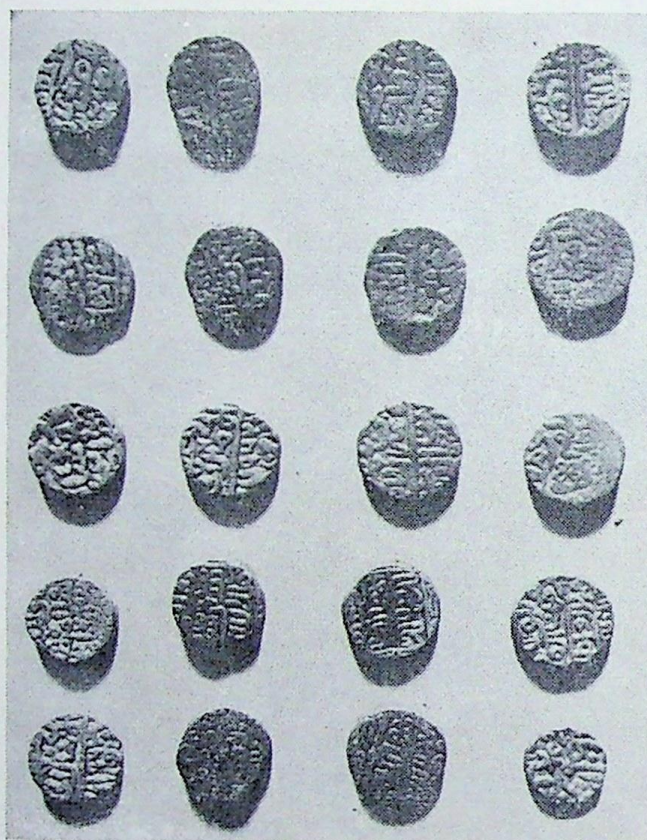
Copper coins after treatment.

removing chloride. The amount of chloride was found to be progressively lower until at the last stages, only a few traces could be noticed.

Subsequently, the coins were thoroughly washed under running tap water for about 4 to 6 hours and finally with distilled water, until the washing showed no trace of soluble salts, alkalinity or of chloride.

Finally the coins were thoroughly dried and coated hot with 1 per cent solution of Poly Vinyl Acetate to protect against harmful atmospheric agents.

RESULT OF TREATMENT

All the hidden inscriptions on coins were cleared (Fig. 2).

कृष्णावतार

तमद्भुतं वालकम्बुजेक्षणं, चतुर्भुजं शङ्खगदार्यदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं, पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ।।९।।

महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषापरिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्चयङ्गदकङ्कणादिभि र्विरोचमानंवसुदेव ऐक्षत ।।१०।।

सविस्मयोत्फुल्लविलोचनोहरिं, सुतंविलोक्यानकन्दुभिस्तदा ।
कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोऽस्पृशन्, मुदाद्विजेभ्योऽयुतमाप्लुतोगवाम् ।।११।।

अथैनमस्तौदवधार्यपूरुषं, परंनताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ।
स्वरोचिषाभारतसूतिकागृहं, विरोचयन्तंगतभीः प्रभाववित् ।।१२।।

भागवत—१०.३.९-१२

LEARNING AND RECREATION EMIT THROUGH STATE MUSEUM GALLERIES

Arvind Sahai

The State Museum, Lucknow, is continuing its endeavour to serve the scholars, the student community and the general masses through its educational activities which has received impressive response from all. Consequently the educational programmes are now being conducted with fullest zeal and devotion. I am sure our efforts to make the Museum a place of learning and enjoyment for all will bear fruits and we shall succeed in making our impact and contribution felt in the field of audio-visual education.

In my previous report published in the last issue of this Bulletin on the revival of educational activities in the State Museum, Lucknow, I had referred to that in order to solicit greater cooperation from the educational institutions. We had sent circulars to practically all of them and had also estabished personal contacts with teachers and students. This has yielded rich dividends and the number of school parties visiting the Museum and availing our special facilities has considerably gone up. Even for the general masses we arranged and organised programmes and I must say that their response has been quite encouraging.

A. SCHOOL VISITS

During the last six months one hundred & eight institutions consisting of 6615 students and 711 teachers visited the museum and availed the benefit of free entry and free guided tours of the galleries.

B. FILM SHOW

A number of special films dealing with wild life, art and archaeology and archi-

---

Sri Arvind Sahai, Assistant Director, State Museum, Lucknow.

tecture, anthropology were screened for students in the Museum auditorium. Besides a few films from Czekoslovakian and Hungarian embassies which dealt with the life and culture of the people of those countries, separate shows for students and general public were held. Our sim of learning and recreation was greatly achieved through these film shows.

C. LECTURE SERIES

The monthly lecture series which was initiated in May last progressed further and the Museum had the privilage of inviting and listening to some eminent scholars. Following lectures were delivered :

1. LIFE AND CULTURE OF HUNGARIAN PEOPLE

Dr. G. Gemesi, Dy. Director, Culture in the Hungarian Embassy spoke on the life and culture of the people of his country and supported it with some beautiful coloured slides.

2. GUPTA SCULPTURES OF MATHURĀ

This talk was delivered by the Director of the Museum, Sri R. C. Sharma, who elaborated the characteristics of Gupta Sculptures and also brought forward their artistic and aesthetic appeal. Coloured slides on the subject were also shown. Sri Bhawani Shankar Shukla, Director, Cultural Affairs, presided over the talk.

3. EARLY INSCRIPTIONAL REFERENCE TO RĀDHĀ

Dr. S. P. Tewari, Dy. Superintending Epigraphist, Archaeological Survey of India, Mysore, delivered his talk on the above topic and made references to Geet Govind, Viṣṇu Purāṇa and Bhāgawat Purāṇa besides referring to the two copper plates related to Rādhā to substantiate his views regarding the place of Rādhā in Kṛṣṇa's life. Sri R. C. Dube, Director, Sanskrit Academy U.P., was in the chair.

4. EGYPTIAN MUMMY

Dr. Subhash Basu from Calcutta who was here to X-ray the mummy of this Museum spoke on the process of mummification and his own researches in the field of medical science related to the study of age, sex and possible diseases by which the person suffered and also cause of death of the person whose body was mummified. Sri O. P. Agrawal, Head, National Research Laboratory for Conservation of Cultural Property, presiding over the occasion gave several important observations.

5. SOME ASPECTS OF VEDIC KINGSHIP

Dr. S. D. Singh an eminent historian and Professor in Queens Land University, Brisbane, Australia, spoke on the divine theory of Kingship but said that this theory did not find place in Vedic literature. The learned speaker referred to literary evidences to bring forth the fact that though the King or Kshatriya was superior to the priestly class yet there was a tradition of the election of the King in whose administration the two Councils viz Samiti and Sabha had upper hand. Sri R. C. Dube, Director, Sanskrit Academy, U. P., presided.

6. AVADH KI CHITRAKALĀ

This talk was delivered by Sri S. M. Naqvi, Registering Officer, Art and Antiquities, Lucknow Region, during the Lucknow Festival. Tracing the origin and development of the Avadh school of paintings from the time of Shujau-d-daula to the last King Wajid Ali Shah, Sri Naqvi highlighted the features of Avadh style which made it distinct from the late Mughal and other contemporary regional styles. He also presented a good survey of life of the Avadh rulers and their subjects through slides. The lecture was presided over by Sri Shri Muni Singh renowned artist of U. P.

The lecture series which was so far confined to the Museum auditorium extended itself and a few lectures were delivered by the Director of the Museum, Sri R. C. Sharma in other educational institutions. These were as follows :

7. INNER DISCIPLINE OF PAHĀRĪ MINIATURES

This illustrated talk was delivered to the graduate and post graduate students of Juhari Devi Girls Degree College, Kanpur, on their special request.

8. AJANTĀ MURALS

Illustrated talks on this topic were given at the Government Museum, Mathura, and the Juhari Devi Girls Degree College, Kanpur. The speaker specially highlighted the message of the Ajantā Art.

9. INTERNATIONAL SEMINAR ON THE ART AND CULTURE OF THE GUPTA AGE

The Seminar was organised on the occasion of the Golden Jubilee of the Bharat Kala Bhawan, Banaras Hindu University, Varanasi, in Dec. 1980. The Director of the State Museum, Sri R. C. Sharma, presented his research paper on the Mathurā Sculptures in the Gupta period. He also gave his observations on the high ideals of the Gupta period society.

10. DR. V. S. AGRAWALA MEMORIAL LECTURES

A landmark in the educational programmes of the State Museum is the institution of Dr. V. S. Agrawala Memorial Lectures to cherish the memory of late Prof. Agrawala who was a renowned Indologist and Ex-Curator of Mathura, Lucknow and Delhi Museums. This will be the annual feature in which distinguished scholars will be requested to deliver a series of lectures on any branch of Indology. The two lectures were delivered on January 23 and 24, 1981, by Dr. Rai Anand Krishna, Professor of Art and Architecture, Banaras Hindu University, on the Mughal School of Paintings in 16th and 17th Century. Rich tributes were paid to late Dr. V. S. Agrawala.

D. SPECIAL EXHIBITIONS

The Museum organised a special exhibition on "Yaadgar-e-Avadh" in Lucknow Festival of 1981 in the Begum Hazrat Mahal Park. The theme of this exhibition was cultural harmony of Hindu and Muslim traditions which was nourished and developed under the patronage of rulers of Oudh. Oil paintings of rulers of Oudh, photographs of historical buildings, original objects showing Minākarī, Chikankarī, ivory work, Chikan and Jamdanī work and coins of this region, were some of the important exhibits displayed in Yaadgar-e-Avadh. The exhibition was visited by thousands of people including artists, literatuers, students and other tourists.

BULGARIAN EXHIBITION

To mark the 1300th anniversary of the foundation of the Bulgarian State a special exhibition was organised on the first floor of the Museum at Banarsibagh. The exhibition was divided into two parts one dealing with the art, culture, science and technology of Bulgaria while the second section presented the paintings by children of 51 countries. These paintings were selected from an International Exhibition organised by International Children's Assembly in Sofia, Bulgaria in 1979.

The exhibition was inaugurated by H. E. the Governor of U.P., Sri C.P.N. Singh on Feb. 22, 1981, and was attended by Madam L. Zhivkova, Member Bolitbureau and Chairman of Cultural Committee of the Peoples Republic of Bulgaria. The Union Minister of State for Education, Smt. Sheela Kaul, was in the chair. Dr. Ammar Rizvi, Minister for Cultural Affairs, U.P. Govt. and Smt. S. K. Bakshi, Minister of Education, U. P. Govt., were some of the important persons who graced the inaugural function.

The exhibition remained open for the public from Feb. 22 to March 1, 1981, and it was visited by thousands of citizens, writers, artists, children, teachers and students. It was a historical event that the paintings of children representing more than fifty countries were on view at one place.

E. TELEVISION

The Lucknow television centre had televised and telecast under its Kalā Aur Kriti programme a special feature 'Kalā Mein Kṛṣṇa' in Sept. last. This programme was presented by the Director of the Museum, Sri R. C. Sharma.

Recently another feature on the same series captioned 'Kalā Mein Buddha' has been televised on Srí R. C. Sharma who has aptly demonstrated the use of various medias used in representing Buddha. This was telecast on 17th March 81.

F. PUBLICATIONS

The State Museum, Lucknow, has revived its publication work. I am happy to inform all our readers that after a lapse of nearly four years we were successful in bringing out the combined 19th and 20th number of the Bulletin of Museums and Archaeology in U. P. in last November. This issue was exclusively devoted to the contents and activities of the museums of our State and was dedicated to the sacred memory of the eminent art historian late Sri Rai Krishna Das.

A Monograph entitled 'Coin Hoards of Uttar Pradesh', Vol. 1—The Reports—compiled by Dr. A. K. Srivastava, was also brought out during 1980.

The present number is a compilation of papers read and presented in the Museum's Annual Seminar held in September last on 'Kṛṣṇa Theme in Art'.

Besides the revival of the Bulletin a number of folders, etc. was also brought out during the period. They are :

1. Introductory Folders of the State Museum, Lucknow. (English & Hindi)
2. Folder on special exhibition on 'Kṛṣṇa Theme in Art.'
3. Folder captioned Yadgar-e-Sulahkul released on the 400th anniversary of Akbar's policy of religious tolerance and spot-lighting the important features of an exhibition set up by the State Archives, State Archaeology and the State Museum in the Diwan-e-Am of the Fort at Agra.
4. Folder on Prof. Vasudeva Sharana Agrawala on the occasion of the inauguration of Prof. Agrawala Memorial Lecture Series.
5. Folder on the special exhibition on Yaadgar-e-Avadh organised in the Lucknow Festival 1981.
6. A poster giving chronological sequence of the development of the State Museum, Lucknow (English and Hindi) .

G. ARTICLES

The museum staff engaged itself in research work and produced a number of research and popular articles. These were published in different dailies and periodicals. The articles and their authors are as follows :

1.	Shravasti Ka Gaurav (Hindi)	Sri S.K. Rastogi, Asstt. Director
2.	Kankali ke Swetambar Kalaratna (Hindi)	—do—
3.	Mahoba ki Jaina Murtiyan (Hindi)	—do—
4.	Padrauna ki Jaina Murtiyan (Hindi)	—do—
5.	Bahubali ki Pratimayen (Hindi)	—do—
6.	Laghuchitron Mein Krishna (Hindi)	Sri R.C. Tewari, Asstt. Director

The collections of the museum were studied by a number of international and local scholars and research workers. The reserve collections were made available to the scholars on request.

It will not be out of context to mention here that the Museums Association of India has decided to revive the Museum News Letter and the Director, R. C. Sharma, who is the Vice-President of the Association, has been requested to act as its Hon. Editor.

H. U. P. MUSEUMS ADVISORY BOARD AND EXPERT COMMITTEE

The U. P. Museums Advisory Board which was hitherto a defunct body met after a long lapse of twelve years under the chairmanship of Dr. Ammar Rizvi, Minister for Cultural Affairs, Information, Tourism, National Integration, Community Development and Parliamentary Affairs. The keynote address was given by Sri O. P. Agrawal, Head, National Research Laboratory for Conservation of Cultural Property and President, Museums Association of India. This valuable note imparted definite guide lines for policy making and future development of the museums of the State. It was unanimously resolved to form an Expert Committee to survey the museums of the State and to submit an early report for proper development, reorganisation of the U. P. museums and also to suggest the ways and means to improve the service conditions of the museum personnels. The museums run by the State have been taken up at the first stage and Committee has submitted its report.

I. THIRD WING

A third wing has recently been added to the existing Museum building at Banarsibagh. This wing will enable us to present before overesteemed visitors such material which has hitherto not been put on display due to paucity of space in the existing

Special Exhibition on 1300 years of foundation of Bulgarian State held in the Lucknow Museum on 23rd February, 1981.

building. A large scale reorganisation is likely to be undertaken when the new wing is finally taken over by the Museum.

J. FOREIGN RULERS' STATUES

Readers will be happy to know that the Museum has started acquiring the statues of foreign rulers which are specimens of high sculptural art of 19th and 20th centuries. These marble and bronze statues were installed in different towns of the State and were subsequently dislocated due to public agitation. These life size and heroic size images will add further attraction to the visitors.

STATE MUSEUM, LUCKNOW

Chronology of Main Events

1863—Founded by Col. Abbot in Chhoti Chattar Manzil as Municipal Museum.

1880—Amalgamation of Allahabad Museum.

1883—Declared as Provincial Museum.

1884—Shifted to Lal Baradari.

1885—Dr. Fuhrer appointed as first Curator.

1907—Extended to Gulistan-e-Eram.

1911—Archaeological Section established in old Canning College building at Kaiserbagh.

1950—Named as State Museum.

1956—Dr. Sampurnanand Chief Minister laid down the foundation of the New Building in Banarasibagh.

1961—Verification of Museum objects and their classification into 26 Sections.

1962—Shifting from Lal Baradari to New Museum Building at Banarasibagh.

1963—Inauguration of the New Building in Banarsibagh by Pt. Jawahar Lal Nehru, Prime Minister.

1965—Inauguration of gallery No. 5 by Smt. Sucheta Kripalani, Chief Minister, U.P.

1980—Gold coins received back from the District Treasury, Lucknow.

1980—Extension of the third wing.

1981—Shifting of archaeological galleries from Kaiserbagh to Banarsibagh building.

ARCHAEOLOGICAL MUSEUM SAMPURNANAND SANSKRIT UNIVERSITY, VARANASI

R. B. Narain

This University Museum was established in the year 1958 by Sree Aditya Nath Jha, the first Vice-Chancellor of this University. As this University is dedicated for the highest teaching in the Vedas, ancient Purāṇas, Tibetology, Jaina and Buddhist philosophy, existence of a Museum containing valuable collections of the ancient art objects was felt to be of an urgent necessity. While studying the Vāyu Purāṇa, Viṣṇudharmottara, Nārad Purāṇa and Agni Purāṇa where the students usually meet the actual descriptions of the various gods and goddesses, it was felt essential to present before the students the actual specimens of the ancient images. The studies of the ancient coins and inscriptions were thought to be of equal importance for the students of the ancient texts. While studying the Vāstushastra the real example of the various forms of temples were taken to be of no less importance. In order to understand and study the subjects like Pāli, Buddhism, Jainism and Tibetology, it was felt necessary to collect and preserve the actual inscriptions in as many numbers as possible, if not, even a correct impression in detail. On paintings too a number of chapters are devoted in the ancient texts. In Viṣṇu Dharmottara there are a number of chapters dealing with the science of paintings. The Śilparatna and Çitralakshṇam too refer the technique of ancient paintings. Hence a separate gallery of paintings belonging to different schools has been created in this Museum.

A house of arts at a place of importance like Varanasi was equally realised to be of immense importance where persons from all over the world come here for the sake of knowledge in religion, art, culture and philosophy. The University enjoying the best advantageous location in the city and situated on the main road to Sarnath now-a-days attracts a considerable volume of visitors both foreign and local.

Sri R. B. NARAIN, Director, Archaeological Excavations, Sanskrit University, Varanasi.

The main collections of the Museum consist of stone sculptures, terracotta figurines, ancient coins, paintings of the various schools viz., Persian, Rājasthānī, Moghul and Pahārī. They are duly acquired through donations and purchases. Among the generous donors are Pandit Kuberanath Shukla, Sree Udai Krishna Nagar, Sree Mata Prasad Sitaram, Sree Murari Lal Kedia and Varanasi Vidya Mandir, all from Varanasi. Others are Sree V. S. Sithole, Sree R. S. Derasari, Pandit Chhavinath Pandey, Swāmi Sankaranand Jee, Swami Kishore Das and others.

Among the Pre-historic tools are the specimens of Neolithic hand axes, Microlithic blades and scrapers. Four significant specimens of Copper Hoard tools in the shape of harpoon, small sword and dagger and axe are duly acquired from a person from Chandausi.

Stone figures, terracotta figurines and ancient potteries have been collected from the important sites such as Kaushambi, Agiyabeer, Sankisa, Srawasti, Rajghat, Mathura, Digwat, Belwa, Gosainpur, Prahaladpur, Bajardih Sarai, Dudh Vinayak at Varanasi, Kannauj, Sarnath, Kammouli, Kasia, Bodh Gaya, Kusinagar, Chandrawati, Patna, Jaumpore, Ahar, Sothi Kalibangan, Kopia, Hastinapore, Bhitargaon, Faizabad, Chakia, Haripur, Bahmanauri, Lathia, and Umraha. Similar collections of stone figures have been made from the Government Sanskrit College, Varanasi, Bhusi (Chakia Tehsil), Vindhyachal, Mangror and the Mirzapur area. The Ex-Vice-Chancellor of this University, Sree Aditya Nath Jha, too generously placed the entire collection of his own with this Museum. Some of the stone figures have been donated by Samar Bahadur Singh, the Manager of His Highness the Maharaj of Gwalior. The paintings on mica have been presented by a donor from Madhya Pradesh.

Among the valuable paintings are the Daśāvatar and Kṛṣṇa Līlā paintings, Rāg Rāgini series, Kṛṣṇa Çeer Haraṇa, marriage function of Sree Ramachandra, Datia school of paintings (Bihari Satsayi), Goddess Durgā, Bhagat Ratnawali, Śaṅkara Parwati, Gaṇeśa, Rama and Lakshmana on the shoulders of Rāvaṇa, fighting scene on elephant, Kṛṣṇa along with the Sakhis, Rādhā Kṛṣṇa, Coronation of Sree Rama, by Ṛṣī Vaṣistha, series of Rukmiṇi Swayambar paintings, Pançamukhi Hanuman, Hansāvatar, Mahāvarāhī Devi, Kota Darbar, Kangra paintings, Bikaner Court scene, Putana-vadh, Orissa art on cloth, Kalpasutra, line drawings of folk art, Jaina paintings and the Gajendramoksha.

Among the rare manuscripts are the Gurumukhi Bhasa ka Bhāgwat dasamaskandh, Bhāgwat with paintings, Holy Koran in a very tiny shape and Pança Ratni Geeta.

Among the metallic collection, figures of Garuḍa, Hanumanjee, Rangola (for keeping vermillion), Dhupbatti, Arti pot, elephant figure and goddess figures are worth mentioning. They are all dated most probably to 15th and 16th century A.D.

This Museum has maintained a good collection of ancient Indian coins. Among them are bent bar coins, punchmarked coins, coins of Alexander, Azes, Gondophares, Sotermegas, Kadphises, Kanishka, Huvishka and Vasudeo. From the Gupta period the coins of Chandragupta II, Skandagupta, Samundragupta, Narsinghagupta Baladitya and Kumaragupta are in the collection of the Museum. Tribal coins, coins of Govinda Chandra, Samantadeo, Jalaluddin Khilji, Alauddin Khilji, Balban, Kaikubad, Farrukhsiyar, Muhammadshah, Shershah, Akbar, Jehangir, Aurangzeb and Shah Alam. Besides, there are the coins of Ujjain, Achyut, Panchal, Phalgunimitra, Ganpatinag, Yaudheya, Kaushambi, and few Tibetan coins.

The Museum too has collected few inscriptions which are duly procured from the adjacent areas round about Varanasi. They are as follows :—

(a) A fragmentary inscription engraved on a stone slab containing only four lines of writing in the Brahmi alphabet assignable to 4th century A.D. The inscription begins with the word "SIDHAM MAHARAJ TATANG RUDRADAMASRI".

(b) Another is fragment of a door lintel bearing a Nagri inscription with two small images which are badly disfigured.

(c) The third is a Nagari inscription dated in the Vikrama year 1404.

(d) The fourth is a part of a long inscription in Brahmi character found from the Varanasi are near Agneswar.

(e) The fifth is a stone slab bearing a mutilated inscription in early Brahmi character from the district Mirzapur.

(f) The sixth is a fragment of a pillar bearing portion of two lines originally formed part of the inscription.

Other activities of the Museum are to conduct Archaeological Excavations and Explorations of the ancient sites in the rank and fiel of other University Archaeological teams. This Museum opted to work in central Gangetic Valley and has been working since the year 1965. The ancient site of Masaon in the district Ghazipur has been excavated by this Museum under my direction for four seasons and thus revealed an important sequence ranging in date from the early 600 B. C. to 600 A. D. The excavations have further enriched the Museum with more finds duly dated on scientific basis. Among them are the interesting terracottas belonging to Mauryan, Śunga, Kuṣāṇa and the Gupta periods. Figures of Gods and Goddesses are remarkable and very interesting specimens of the periods they belong. Archaic and applique methods are clearly visible on the early terracotta figurines. Of the Śunga period, typical turban headed figures are worth mentioning. From the Kuṣāṇa level terracottas bearing foreign influences have

been found in good numbers. A small figure of the mother goddess in red sand stone is very typical and significant. Figures of goddess Śaṣthi are often found from the Kuṣāṇa level. A royal couple proceeding for a religious pilgrimage having an attendant holding the royal umbrella and Chawar in their hands are equally interesting and seems to be associated with some of the Buddhist legend. Bhikshuṇi figurines holding something unknown objects in one hand are very interesting. The figures of the Gupta period exemplify the highest development in the terracotta art. Complete Indianisation in dress and drapery and the postures are clearly evident from the figures. From the excavations important seals and sealings have also been found from the Kuṣāṇa and the Gupta periods.

Among the metallic objects from the digs are the two copper Mirrors, one from the Mauryan and the other from the Kuṣāṇa level. Besides, copper coins from the Kuṣāṇa level assignable to Kadaphises, Kanishka and Huvishka have been preserved in this Museum.

Efforts have been made to develop a rich collection of ancient potteries ranging in time from the Harappans upto the early historical periods. Chalcolithic potteries from Kalibangan and Sothi, Painted Grey Ware sherds, fine pieces of De-lux wares and Red wares in all varieties have been collected in this Museum. This collection renders a good deal of assistance to the students of Archaeology of this University in studying the gradual evolution of the De-lux wares of the early historical period.

This Museum has further undertaken the teaching projects wherein students coming out as Āçāryas join the Post-Graduate Diploma Course (under the kind approval of the State Govt. and the Chancellor of this University) running since 1978. The syllabus and the courses of studies are in such a way planned that the students may be competent to serve the Museum as well as the archaeological projects of any nature. The main object of this plan of teaching is to attract the Sanskrit students who have a solid background of knowledge of the ancient texts and Purāṇas and from whom it is expected that they will be more successful in undertaking research works on any subject directly related with the ancient Indian history and culture.

ART OF CARPET WEAVING IN INDIA

H. K. Wattal

A carpet is a floor-covering textile product composed of a base fabric typically of cotton, and a pile attached thereto, made usually of wool in the form of knots or tufts. Since these knots are made by hand one at a time, they call for an enormous amount of skilled manual labour. On the other hand each knot can be made of a different colour of wool at will, thus providing an unequalled opportunity for variety of design.

It is impossible to say who wove the first carpet, or where or when, but all contemporary scholars are agreed that the cradle of the industry is the Middle East. The PAZYRYK carpet discovered in Siberia is judged to have been woven in Persia in the 5th century B. C., and for that reason is taken to be the earliest woven carpet on record. Considering the quality of the material and the technique of this specimen, one may assume that the craft itself must be at least 500 years older.

The Indian carpet industry holds pride of place for the volume and excellence of its production among the major carpet producers of the World viz., Iran, Pakistan, China and Turkestan. However, it is no more than about 400 years old, having been established by the emperor AKBAR. Abul Fazal writes in the "Ain-i-Akbari":

His Majesty has caused carpets to be made of wonderful varieties and charming textures; he has appointed experienced workmen, who have produced many masterpieces. The gilims of Iran and Turan are no more thought of, although merchants still import carpets from Goshkan, Khuzistan, Kirman and Sabzwar. All kinds of carpet weavers have settled here, and drive a flourishing trade. These are found in every town, especially Agra, Fatehpur and Lahore.

It is difficult to say which if any of the existing Mughal carpets belong to this initial period. However, many of those woven in later times are still carefully preserved in the World's museums. The following are worthy of note:

Sri H. K. WATTAL, The Kailas Carpet Company, Dholpur House, Agra.

The Boston Shikargah or hunting carpet, late 16th or early 17th century.

The bird carpet in Vienna, 16th century.

The prayer carpet in Vienna, early 17th century.

The Vaq Vaq tree carpet in Paris, early 16th century.

The Girdlers carpet, mid. 17th century.

The Fremlin carpet, mid. 17th century.

The 16th and 17th century Lahore carpets at Jaipur.

The Empress Eugenie Agra Jail carpet, 19th century.

It is fanciful to believe that carpet weaving was introduced into Kashmir by Zain-ul-Abidin (15th century) from Persia and Turkestan, there being no record or specimen available. It is equally romantic that the founder of carpet weaving at Ghosian Madhosing, now spread over Mirzapur and Bhadohi, was a Nubian slave called Luqman Hakim, who had been set upon by footpads on the grand trunk road. The now major industries of Kashmir and Bhadohi/Mirzapur were without question developed by European entrepreneurs to cater for the rising demand for carpets from England, France and Germany in the early 19th century, consequent upon the rise of a new middle class out of the Industrial Revolution. This opened up new sources of employment for designers and weavers, and kept the craft alive after the collapse of the Mughal Empire. But it led to hasty commercial production, in poor taste and devoid of artistic content. It produced wage slaves instead of craftsmen and brought in a hybrid artistic idiom not understood by the weavers and designers. This was an influence to which even the older Agra and Lahore industries were no immune. The only way to get a craftsman to produce his best is to say to him, in the words of George Birdwood (Industrial Arts of India, p. 288) "Now I want you to make something in this style, in your own way, but the best thing you ever did, and you may take your own time about it and I will pay you whatever you ask".

The closer the weave of a carpet, the more highly it is prized. Indian carpets are woven in every possible fineness from 12 knots per square inch upwards. It is gratifying to record that a small Indian picture carpet, showing Shiva dancing, continues to be the finest piece of carpet ever woven anywhere in the World, with an incredible 2900 knots per square inch.

The designs of Indian carpets are almost entirely imitative of Persian, Turkish, Turkoman, Chinese and French styles. This is so perhaps because there is no pre-Muslim carpet tradition in India. It could also be that the Indian carpet being mainly an export item, the prestige of the aforesaid styles overseas has compelled the Indian carpet designer to follow suit. Almost every sort of carpet design has at one time or another been successfully executed in Indian carpets, However, from the earliest times to the present day

the prominence of the Ispahan style has been evident, even if it be with a noticeable Indianisation of the Ispahan motifs. Other popular styles are Kashan, Tabrez, Herez and Kirman among the Persians, Bokhara and Afghan among the Turkomans, Peking, Tientsin and Keenlung among the Chinese, and Savonnerie among the French.

Varied indeed are the ways in which the weaver is instructed as to the design to be woven, that is to say, what colour of wool to select for each knot. At Mirzapur the weaver works from a coloured plan on squared paper, which shows each knot separately. At Agra, this same plan would be sung out knot by knot by a reader to the weavers who repeat it back to him, all this being in a strange language full of 'chala', 'bacha' and 'byaneen' in which each colour has a specific name, 'meethi' for light blue, 'sabza' for dark green, 'gulnar' for rose and so on. This accounts for the singsong audible constantly in a carpet factory. The Srinagar weaver reads the design from 'talim' written by a scribe on strips of paper, using special symbols for numbers and colours. Not till a large part of the carpet has been woven does it become apparent what the design will be. This 'talim' method has been borrowed from the Kashmiri weaver of 'kani' or loom woven shawls.

The industry began its colourful career with dye stuffs obtained from natural products. Reds came from Majith roots (RUBIA CORDIFOLIA) or from lac insects (COCCUS LACCA), blues from indigo (INDIGOFERA TINCTORIA) and yellows from pomegranate rind (PUNICA GRANATUM) or from walnut husk (JUGLANS REGIA) or from myrobalan (TERMINALIA CUEBULA). Over the last hundred years, however, the use of synthetic aniline dyes has become universal. These have the advantage of ease of procurement and application. While the dyer of the last century was something of an alchemist, with his strange decoctions of plant and insect juices, today's dyer is a chemist with a sharp eye for hue. The romance has gone out of the craft but in its place has arisen a technology well able to take care of greatly expanded production.

Let us now examine a few typical Indian carpets. First a Mirzapur woven carpet with a Chinese design using some eight colours. It is a largish carpet intended to cover a sittingroom floor. The colour of the field is 'old ivory', in strict conformity to type. The general effect is a little stark because of the preponderance of heavy deep blue lines and key patterns. The field is sparsely covered with typical Chinese motifs. These could be the Swastika (a symbol of good luck), the Dragon of Heaven, the Cloud design, the lightning-and-fire design or the Yang-and-Ying. They could be the Phoenix, the Lion, the bat. Or they could be the attributes of the eight Taoist Genii such as the fan, the sword, the lotus flower, or the eight Buddhist emblems of happy sugury. In each case the presentation is exact though neither the designer nor the weaver has the faintest notion of the meaning of the symbolism. The wool used is the best Indian, still far short

of the silky Chinese. The pile is deep and rich, and the pattern is sharply incised by carving of the pile tufts.

Turn now to an Agra carpet with a Persian design. The weave being very fine, the size is somewhat small, say 6'×9'. The first impression is of a Baroque richness of design and colour. As many as 24 colours may have been used. If the background is bright, say a ruby red or a Prussian blue, the balance with the secondary colours is so perfect that the harmony is palpable. Every motif, large or small, is faithfully rendered from the old masters. Every floral ornament, be it a palmette or a rosette, is completely stylised, with only the remotest resemblance to nature. Every animal and bird is the product of the fertile imagination of some Iranian artist. Take the case of the Boston hunting rug. Even in a rug so nearly naturalistic as this one, the mythical beast in the lower field has the head and trunk of an elephant of monstrous size, the wings of an eagle, the blood-stained claws of a lion, and a tail so long that after being tied into a knot, it has enough left to hitch round the body of an elephant. All this is a far cry from the sturdy naturalism of the Hindu designer of an earlier age.

A few words now about a typical Kashmir woven Turkoman. This one is a red Bokhara of the Tekke tribe. The 'GUL' or stylised flower is precisely copied from the original. The entire design is geometric. The principal GUL and its subsidiary repeat alternately in the length and breadth of the field. The border is made up of stripes of smaller motifs, also geometrical. The colours are confined to seven, red, rose, black, blue, bottlegreen, gold and ivory. The only points of departure from the original are the weave, which is here Persian, and the base fabric, which is made of cotton instead of wool. The carpet has a very fine weave, perhaps 500 knots to the square inch, and a lustre like real silk.

For our last carpet we will describe a room size Savonnerie from Bhadohi. This is in imitation of the French, Louis XV style. If all the shades of a single colour are counted separately, there may be 36 hues in all. Set on an Ivory field is an oval medallion with multitudes of flowers and leaves, every one a faithful reproduction of nature. Perhaps there is a basket of flowers or a pair of butterflies. A sky-blue ribbon twists and turns through the design in gay abandon. Edging the ground is border with a similar profusion of naturalistic motifs. The structure is still Persian, but the pile is deep, and is carved to accentuate the design. The effect is of great richness, but with no disturbing mystery as with the Persian style or mystic symbolism as with the Chinese. It is a wealthy man's carpet, bordering on extravagance in design. A little more and it would be hideous rococo.

To return to mandane matters, the Indian carpet industry holds promise of years of work for designers and weavers. For nothing makes a home like a carpet, and there is no carpet like the Indian.

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल स्मृति व्याख्यानमाला

राज्य संग्रहालय लखनऊ, प्राच्य विद्याओं के ज्ञाता, मथुरा, लखनऊ एवं दिल्ली संग्रहालयों के अध्यक्ष स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की स्मृति में एक वार्षिक व्याख्यान-माला का आयोजन कर रहा है।

डा० अग्रवाल का ७ अगस्त, १९०४ ई० को मेरठ जनपद के खेड़ा ग्राम में जन्म हुआ। सन् १९२७ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक उपाधि लेकर लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर और "इण्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि" विषय पर पी-एच० डी० एवं डी० लिट्० उपाधियों से सम्मानित हुए।

मथुरा संग्रहालय में डा० अग्रवाल ने संग्रहालयाध्यक्ष पद पर राजकीय सेवा में प्रवेश किया और १९३१ से १९३९ ई० के बीच संग्रहालय के संग्रह में महती वृद्धि तथा बहुविध योगदान किया। तत्पश्चात् वह लखनऊ संग्रहालय के अध्यक्ष बनकर आये और यहां की वीथिकाओं का पुनर्गठन किया। वह भारतीय संग्रहालय परिषद् के संस्थापक सदस्यों में थे।

डा० अग्रवाल १९४६ से १९५१ तक भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में दिल्ली के मध्येशिया संग्रहालय के अध्यक्ष पद पर रहे। अपने इस कार्यकाल में उन्होंने राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली, की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार की।

तत्कालीन कुलपति श्री गोविन्द मालवीय के आमंत्रण पर डा० अग्रवाल ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में भारतीय कला एवं वास्तु विभाग में प्रोफेसर पद का कार्यभार सम्हाला और अन्तिम समय अर्थात २२ जुलाई, १९६६ ई० तक इसी पद को सुशोभित करते रहे।

डा० अग्रवाल, नागपुर में भारतीय मुद्रा समिति, पटना में भारतीय संग्रहालय परिषद्, बम्बई में अखिल भारतीय प्राच्य कांग्रेस के कला एवं प्राविधिक सत्र, कटक में अखिल भारतीय कांग्रेस के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय इतिहास के अध्यक्ष एवं सन् १९६५ ई० में गौहाटी में २२वें अखिल भारतीय प्राच्य अधिवेशन में प्रधान अध्यक्ष रहे।

डा० अग्रवाल प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, पुरातत्व, कला और लोक कला, हिन्दी तथा

संस्कृत के मर्मज्ञ थे। लोक कला के उन्नयन और संवर्धन के लिए उन्होंने 'जनपद आन्दोलन' का सूत्रपात किया तथा वह "जनपद" पत्रिका के सम्पादक भी रहे।

प्रो० अग्रवाल ने "इण्डिया प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी" तथा नेपाल अक्षयनिधि हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत प्रकाशन के प्रधान सम्पादक के रूप में भी काम किया। भारतीय कला और संस्कृति के महान उन्नायक के रूप में उन्होंने ५० से अधिक पुस्तकों का प्रणयन और सैकड़ों महत्वपूर्ण शोध निबन्ध लिखे। उनके प्रमुख आकार ग्रन्थ "इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि" के अतिरिक्त हर्षचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन, कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन, जायसी के पद्मावत पर संजीवनी टीका, प्राचीन भारतीय लोक धर्म, मातृभूमि, कला और संस्कृति, पृथ्वी पुत्र, भारत सावित्री, कल्पवृक्ष, वामन और मत्स्य पुराणों पर टीका आदि प्रशंसनीय कृतियां हैं। भारतीय कला, स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, गुप्त कला आदि पुस्तकें भारतीय कला, वास्तु एवं प्रतिमा विज्ञान के शोध कर्ताओं के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। उनका यू० पी० हिस्टारिकल सोसाइटी में १९४८ से ५३ तक के अंकों में प्रकाशित मथुरा संग्रहालय कैटालाग विषय की वैज्ञानिक शोध-परक व्याख्या प्रस्तुत करता है। उन्होंने कला और प्रतिमा विज्ञान पर विभिन्न विषयों पर अनेक लघु-ग्रन्थों का प्रणयन तथा अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन एवं अनुवाद भी किया। इससे संस्कृति तथा हिन्दी जगत का बड़ा उपकार हुआ।

डा० अग्रवाल वैदिक वाङ्मय के विशेषज्ञ थे। ऋग्वैदिक अकादमी के संस्थापक निदेशक के रूप में उन्होंने वेदान्त विषयक अनेक शोधात्मक पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'स्पार्क्स फ्राम वैदिक फायर', वेद रश्मि, वेद विद्या, उरु ज्योति, गीता नवनीत, शिव महादेव आदि प्रमुख हैं। ये कृतियाँ उनकी भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म के गहन ज्ञान की परिचायक हैं। उनकी वैदिक शब्दावली की व्याख्या और विश्लेषण अद्वितीय है।

प्रो० अग्रवाल सच्चे राष्ट्र भक्त थे और किशोरावस्था में ही भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। सादा वस्त्रों में लिपटा डा० अग्रवाल का कृशकाय शरीर सौम्यता की मूर्ति था। डा० अग्रवाल स्वयं घोर परिश्रमी थे और दूसरों से भी कठोर श्रम की अपेक्षा रखते थे। उन्होंने कभी चाय तक नहीं पी। पूर्ण शाकाहारी डा० अग्रवाल का व्यक्तित्व आत्मसंयम, कठोर अनुशासन और उच्चादर्शों का संपुजन और प्रेरणा स्रोत था। वह वास्तव में भारतीय ऋषि परम्परा में थे।

संस्कृति तथा साहित्य के अजस्र स्रोत डा० अग्रवाल की स्मृति में एक वार्षिक व्याख्यानमाला के शुभारंभ से सांस्कृतिक कार्य विभाग, उ० प्र० तथा राज्य संग्रहालय, लखनऊ स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं।

भवानी शंकर शुक्ल | **रमेश चन्द्र शर्मा**
निदेशक, सांस्कृतिक कार्य उ०प्र० | २३-१-१९८१ | निदेशक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ

कला में कृष्ण संगोष्ठी–विहंगम दृष्टि

इन्दु प्रकाश पाण्डेय

भारतीय मन सदा से ही ऐसे तत्व का अन्वेषी रहा है, जिसमें वह इहलोक में रहकर भी सच्चिदानन्द उस परमतत्व की रसानुभूति करता रहे। इस दृष्टि से कृष्ण तत्व की प्राप्ति उसकी महान उपलब्धि थी जो हमारी संस्कृति की विविध विधाओं में विविध रुपों में प्रस्फुटित होता हुआ जनमानस को अद्यावधि आप्लावित एवं आह्लादित करता रहा है। भारतीय कला व साहित्य परम्परा में श्रीकृष्ण मात्र सूक्ष्म आत्मतत्व न रहकर साकार विष्णु अवतार और उनकी प्रभुता का वास्तविक रूप भी हैं। उनकी इसी लोकप्रियता को भारतीय कला में निर्धारण हेतु राज्य संग्रहालय, लखनऊ द्वारा ५-७ सितम्बर १९८० में आयोजित की गयी संगोष्ठी के माध्यम से देश-विदेश के अनेक मूर्धन्य विद्वानों एवं इतिहासकारों के विचार यहाँ संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

अपने उद्घाटन भाषण से सम्बोधित करते हुए सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद, पद्मभूषण श्री सी० शिवराम मूर्ति ने कृष्ण तत्व को बोध गम्य बनाते हुए बड़े अनूठे ढ़ंग से परिभाषित किया। चर-अचर सम्पूर्ण सृष्टि में रमें हुए इसकी सत्ता का आभास उन्होंने वेदों, उपनिषदों, महाभारत, भागवत तथा गीता के सुबोध उदाहरणों द्वारा कराया। वंशी विभूषित श्याम की अभिराम छटा का आनन्द देते हुए उनके शारीरिक सौष्ठव की एक विश्लेषणात्मक व्याख्या उनके द्वारा प्रस्तुत की गयी। अपने 'दक्षिण भारत में कृष्ण प्रतिमायें' शीर्षक से एक रोचक शोधपूर्ण वार्ता से उन्होंने श्रोताओं का ज्ञानवर्द्धन किया। दक्षिण के मन्दिरों में कृष्ण के अंकन का सार्थक बोध कराते हुए कलाविद ने वहां के शिल्प में उनकी प्रिय संगिनी राधा को अनुपस्थित बताया।

इसी विचार बिन्दु में राज्य संग्रहालय, लखनऊ के भू० पू० निदेशक, डा० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ने "कृष्ण-द्विभुजी या चतुर्भुजी" शीर्षक पर प्रकाश डाला। अनेक साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर उन्होंने इस बात की पुष्टि की कि आराध्य रूप में कृष्ण का चित्रण चतुर्भुजी और अवतारी मानव रूप में द्विभुजी दिखाया जाता है। इनके कला में अवतार संबंधी स्वतंत्र चित्रण की एक गुत्थी को

श्री इन्दु प्रकाश पाण्डेय, प्राविधिक सहायक, राज्य संग्रहालय, लखनऊ।

सुलझाने के प्रयास में झांसी राजकीय संग्रहालय के निदेशक डा० शिव दयाल त्रिवेदी ने "तक्षणकला में कृष्णावतार की स्थिति" निबंध को प्रस्तुत करते हुए कहा कि अपवाद स्वरूप कुछ दशावतार फलकों को छोड़कर कहीं भी कृष्ण का अवतार रूप में स्वतंत्र चित्रण नहीं मिलता। इसके लिए कला और साहित्य से कई तर्क संगत प्रमाण देते हुए उन्होंने बताया कि कृष्ण को सदा ही विष्णु का वास्तविक रूप माना गया है और इसीलिए दशावतार की प्रधान विष्णु प्रतिमा ही कृष्ण का प्रतिनिधित्व करती है।

श्रीकृष्ण का लोक जीवन में यद्यपि माधुर्य रूप ही अधिक प्रिय हुआ, पर लोकनायक के रूप में भी वे कभी पीछे नहीं रहे। उनके इसी पक्ष पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाते हुए सागर विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश के भू० पू० प्रो० कृष्ण दत्त बाजपेयी ने "कला में वीर कृष्ण" की झांकी अपने निबन्ध द्वारा प्रस्तुत की। पांचवी शती ई० पू० की पाणिनि विरचित "अष्टाध्यायी" से लेकर अनेक साहित्यिक साक्ष्यों को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया कि मल्हार (जिला बिलासपुर, म० प्र०) से मिली चतुर्भुज विष्णु प्रतिमा भारत की प्राचीनतम प्रतिमा मानी जा सकती है, इसमें मौर्ययुगीन लिपि में अभिलेख भी है। मानव कृष्ण के संहारक एवं योद्धा स्वरूप की चर्चा करते हुए उन्होंने साहित्य और शिल्प में उनके वीर भाव को प्रदर्शित करते हुए अनेक उद्धरणों को आलोकित किया।

इस धरती पर अवतरित होकर कृष्ण ने उस आध्यात्म तत्व को साकार स्वरूप प्रदान किया। अब वे मात्र मनीषियों और तत्वदर्शियों का विषय न थे, वे वसुदेव-देवकी पुत्र यशोदानन्दन हो गये थे। इनके आगमन से भारतीय कलाओं को मुखर अभिव्यक्ति मिली और वे निरन्तर पुष्पित-पल्लवित होती रहीं। उनके लीलादृश्यों को हमारी सांस्कृतिक थाती अब तक संजोये हुए है जिसको उद्घटित करने के प्रयास में हमारे कुछ अन्य विचारक आपके समक्ष हैं।

राजस्थान की पुरासम्पदा को लेकर श्री रत्नचन्द्र अग्रवाल, निदेशक, राजस्थान पुरातत्व तथा संग्रहालय ने "राजस्थान पुरातत्व" में कृष्ण लीला अंकन पर प्रकाश डाला। उनके अनुसार वहाँ कृष्ण संबंधी सर्वप्रथम उल्लेख सर्वतात के दूसरी शती ई० पू० के घोसुण्डी अभिलेख में मिलता है। इसके पूजा शिलाप्राकार, जो कि ३०० फुट लम्बा और १५० फुट चौड़ा है, पर विशेष जोर देते हुए उन्होंने कहा कि यहाँ अन्य अभिलेखों में उल्लिखित "शैलभुजा" शब्द तथा इस नारायण वाटक की विस्तृत माप से परिलक्षित होता है कि इसके भीतर बलराम और कृष्ण की विशाल मूर्तियाँ रही होंगी। बीकानेर, रंग महल की मृण्मूर्तियों में उन्होंने मुख्य रूप से गांधार शैली से प्रभावित मूंछ युक्त गोवर्धनधारी का उल्लेख करते हुए बताया कि उनका यह त्राता रूप राजस्थान में बहुत प्रसिद्ध हुआ और इसको वहाँ के अभिलेख में प्राय: आये "गोवर्धनकारितो" शब्द से और बल मिलता है। मंडोर से प्राप्त गुप्त कालीन स्तम्भों पर भी कृष्ण लीला के दृश्य वक्ता को प्राप्त हुए हैं। इसी क्रम में उत्तर प्रदेश पुरातत्व संगठन के निदेशक श्री राम चन्द्र सिंह ने वासुदेव पूजा के पुरातात्विक आधार प्रस्तुत करते हुए मथुरा के मोरा तथा दोर्जाम्ब अभिलेखों को उद्धृत किया जिसमें पंचवृष्णि वीरों (संकषर्ण, वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और साम्ब) की पूजा का उल्लेख हुआ है। भीतर गांव (जि० कानपुर) के गुप्तकालीन मन्दिर में कृष्ण लीलाअंकन के अनेक दृश्यों को उन्होंने स्लाइड्स के माध्यम से दिखाया।

उड़ीसा के पुरातत्व को समेटे हुए वहाँ के संग्रहालय अधीक्षक डा० एच० सी० दास ने अपने गवेषणात्मक निबन्ध में उड़ीसा के मन्दिरों में कृष्ण का अंकन निर्धारित करते हुए सूचित किया कि सिंहनाद मन्दिर में पूतनावध, मनिकेश्वर (कटक जिला) में कालियदमन, जगन्नाथ (पुरी जिला) मन्दिर में गोवर्धन-धारण, लिंगराज में दधिमथती यशोदा के साथ बाल कृष्ण, सोमनाथ में चीरहरण तथा गोपियों के साथ उनके नृत्य आदि दृश्य उल्लेखनीय हैं। उनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ जैसे चतुर्भुजी कृष्ण और गोपीनाथ अनेक मन्दिरों की आज भी श्री वृद्धि कर रही हैं। इन्हीं लीला दृश्यों को लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० रामाश्रय अवस्थी ने खजुराहों के कुछ मन्दिरों में भी पाया तथा उनके चित्र भी उन्होंने स्लाइड्स द्वारा दिखाये। जैन पार्श्वनाथ मन्दिर तथा विश्वनाथ मन्दिर में भी यमलार्जुन मूर्ति होने की सूचना उन्होंने दी। तृणावर्तवध में उन्होंने युवा-कृष्ण का चित्रण बताया जबकि इसे भी अन्य बाल लीला दृश्यों के सदृश बाल कृष्ण ही चित्रित होना चाहिए था।

प्रतिहार मन्दिरों में कृष्ण लीलांकन पर एक लेख, पुरातत्व सर्वेक्षण भारत सरकार के मन्दिर सर्वेक्षण अधीक्षक श्री राकेश दत्त त्रिवेदी ने प्रस्तुत किया। कृष्ण को विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठापित करते हुए श्री त्रिवेदी ने प्रतीहारकालीन चित्रणों में भागवत के कथानक को पूर्ण रूपेण अनुस्यूत पाया। विशेष रूप से उन्होंने ओसियां (जोधपुर-राजस्थान) के प्रारम्भिक मन्दिरों की चर्चा की जिसमें क्रमशः कारागार में कृष्ण जन्म, योगमाया-वध करने को उद्यत कंस, पूतनावध, शकट भंग, अरिष्टासुर वध, कालियमर्दन आदि दृश्यों का सफलतापूर्वक चित्रांकन किया है। यह प्रेक्षणीय है कि यहाँ पर केवल कृष्ण के बालरूपों को ही अभिव्यक्ति मिली है, महाभारत के वीरकृष्ण का चित्रण यहाँ नहीं मिलता।

प्रस्तर अंकनों में कृष्ण लीला के विविध आयामों के दर्शन उपरोक्त विद्वानों के लेखों से हुए, अब मृणकला में इनकी क्या अभिव्यक्ति मिली है, इसके लिए प्रस्तुत है डा० सतीश चन्द्र काला का "मृणकला में कृष्ण" लेख। इसमें इनके अनुसार चतुर्थ शती ई० की मृणकला से कृष्ण का चित्रण मिलने लगता है। उन्होंने रंगमहल (बीकानेर-राजस्थान) की गोवर्धनधारी तथा दानलीला की मृण्मूर्तियों पर गांधार शैली का का स्पष्ट प्रभाव बताया जिसे श्री रत्न चन्द्र अग्रवाल ने भारत की सर्वप्राचीन दानलीला मूर्ति माना है। देवगढ़ के मन्दिर में चीरहरण, भीतरगाँव तथा सहेट-महेट की मूर्तियों में कुबलयापीड़ तथा केशीवध और अहिछत्रा से प्राप्त मूर्तियों में कृष्ण बलराम चित्रण यहाँ अवलोकनीय है। बड़ौदा तथा इलाहाबाद संग्रहालय को कुछ मूर्तियों में क्रमशः कालियदमन और प्रलम्बासुर वध के दृश्य उन्हें अंकित मिले हैं। पहाड़पुर से प्राप्त मृण्मूर्तियों में कालियमर्दन दृश्य को उन्होंने विशेष महत्व का बताया।

लघु चित्रकला का अपना अलग स्थान है। चित्रकार की तूलिका किस प्रकार रंगों का सामांजस्य स्थापित कर आपको विस्मृत करने में सक्षम है, इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए बनारस हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर डा० राय आनन्द कृष्ण ने चित्रकला के संक्षिप्त इतिहास पर प्रकाश डाला। उन्होंने प्रारम्भिक कला का आधार भागवत का दशम स्कंध और 'गीत गोविन्द' को तथा बाद के चित्रणों का आधार रीति काव्यों को बताया जिसमें "बिहारी सतसई" का प्रमुख स्थान है। विभिन्न शैलियों के चित्रों को स्लाइड्स के माध्यम से प्रदर्शित करते हुए उन्होंने एक चित्र की विशेष व्याख्या की, जिसमें प्रयुक्त हुए

केवल दो रंगों-राधा तथा माधव द्वारा सम्पूर्ण चित्र को सजाकर कितनी सूक्ष्मता एवं संजीवता से सर्वत्र राधा-माधव के व्याप्त होने की आध्यात्मिक भावना को चित्रकार ने साकार किया था।

इसी विचार क्रम में लखनऊ राज्य संग्रहालय के निदेशक श्री रमेश चन्द्र शर्मा ने अपने संग्रहालय के चित्र संग्रह के विशेष संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए "कांगड़ा शैली में कृष्ण" विषयक एक रोचक सदीप व्याख्यान प्रस्तुत किया। कांगड़ा चित्रों के सृजन की परिस्थितियों एवं वातावरण का सूक्ष्म विवेचन करते हुए उन्होंने इन्हें एक जीवन्त दर्शन बताया तथा इनके वर्ण-विन्यास की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मुगल तथा कांगड़ा चित्रशैली में बाह्य तथा अन्तरंग संयोजन की भिन्नताओं को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कांगड़ा चित्रशैली की उच्च आध्यात्मिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की तथा कृष्ण लीला चित्रावली की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। इसी शृंखला में लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० किरन कुमार थप्ल्याल ने अपने शोध पूर्ण निबन्ध में राज्य संग्रहलय के चित्र अनुभाग के राजस्थानी शैली के कुछ जैन चित्रों की सदीप व्याख्या प्रस्तुत की। "सांझी कला" पर एक भावपूर्ण अभिव्यक्ति व्रज भूमि की डा० प्रेमलता पालीवाल के व्याख्यान में देखने में आयी। इसमें उन्होंने व्रज में आश्विनमास के पितृपक्ष में राधाकृष्ण को समर्पित विभिन्न रंगों की "सांझी" की बड़ी मनोरम तकनीकी, धार्मिक व आध्यात्मिक झाँकी दर्शायी। व्रज लोक शैली में विकसित यह कला अपना अनूठा स्थान रखती है। इसी क्रम में कृष्ण कला से संबंधित राज्य संग्रहालय, लखनऊ के संकलन में सुरक्षित कुछ सचित्र ग्रन्थों की समीक्षा राजकीय संग्रहालय, अल्मोड़ा के निदेशक श्री वी० एन० श्रीवास्तव तथा लखनऊ क्षेत्र के रजिस्ट्रीकरण अधिकारी श्री शहीर मुस्तफा नकवी ने अपने सदीप व्याख्याओं में प्रस्तुत की। इनमें अकबर के समय लिखी हरिवंश पुराण की सचित्र पोथी विशेष उल्लेखनीय है।

कृष्ण तथा उनके सम्प्रदाय की भारत तथा उससे बाहर देशों में स्थिति निर्धारण का सराहनीय प्रयास डा० बी० एन० पुरी, भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, लखनऊ विश्वविद्यालय के द्वारा किया गया। उन्होंने आन्तरिक और बाह्य साहित्यिक एवं पुरातात्विक सामग्रियों के आधार पर कृष्ण को मध्येशिया तथा पूर्वी द्वीप समूह के अनेक द्वीपों में प्रतिष्ठित बताया।

कृष्ण के विविध पक्षों के विविध निबन्धों में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये, पर उनकी चिरसंगिनी राधा का अभिलेखीय अन्वेषी प्रयास मैसूर के अभिलेख उपाधीक्षक डा० शीतला प्रसाद तिवारी के निबन्ध के माध्यम से प्रकाश में आया। जबकि अधिकांश लोगों ने कृष्ण चरित्र के विशद कोष भागवत आदि पुराणों में राधा की अनुपस्थिति को स्वीकारते हुए जयदेवकृत बारहवीं शती के "गीतगोविन्द" को ही राधा का जन्मदाता माना है। अभिलेखीय साहित्य में राधा की उपस्थिति का यह कदाचित प्रथम साक्ष्य है। इनके द्वारा प्रस्तुत प्रथम अभिलेख धारवाड़ के राजा वाक्पति मुंज का है। जिसकी तिथि वि० सं० १०३१ अर्थात ९७४ ई० है, जिसमें कृष्ण के लिये "राधाविरहातुर" शब्द प्रयुक्त हुआ है। दूसरा अभिलेख मंडोर (राजस्थान) से प्राप्त है जिसकी तिथि नवीं शती मानी गयी है। इसमें कृष्ण के लिये "सौरिः" तथा "राधा" और "गोकुल" शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है। प्रस्तोता के अनुसार इस समय तक राधा साधारण
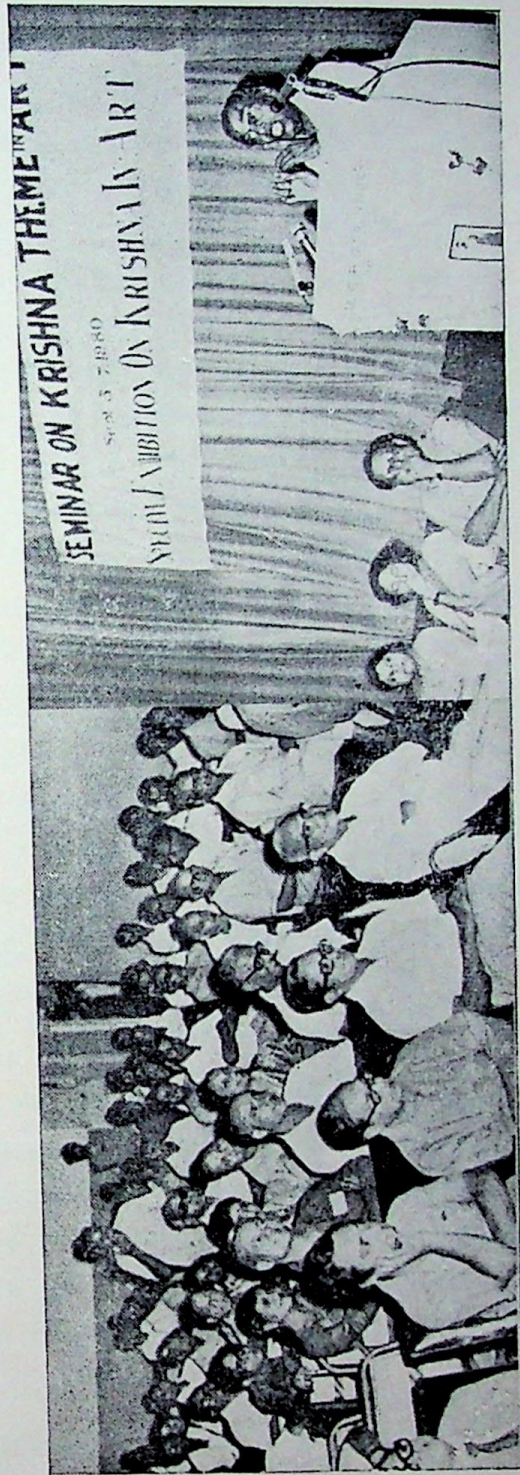
Seminar on 'Kṛṣṇa theme in Art' *in* Lucknow Museum, Sept. 5-7, 1980.

"गोपवनिता" न होकर कृष्ण जीवन की एक विशेष पात्र रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। अतः उनका सुझाव है कि राधा की तिथि प्रस्तुत अभिलेखीय प्रमाण से और पहले की हो सकती है।

साहित्य जगत में तो कृष्ण उसके प्राणतत्व ही हैं। इसी भावना में "कृष्ण कला की अनारंग पृष्ठभूमि" से अपने उद्गार प्रकट करते हुए डा० विद्यानिवास मिश्र ने कृष्ण तत्व का अत्यन्त हृदय ग्राही चित्र उपस्थित किया। उनके अनुसार सारी कलाओं के स्रोत वे ही हैं। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं को मात्र सांसारिक लीला रूप में ही नहीं देखा, बल्कि उसे एक सूक्ष्म आत्मानन्द के रूप में पाया। उनके पुष्टि मार्ग में नौ सेव्य स्वरूपों पर व्रज के प्रसिद्ध विद्वान डा० प्रभुदयाल मीतल ने सारगर्भित शोध निबन्ध प्रस्तुत किया। डा० सुरेश अवस्थी ने भारतीय तथा भारतीयेत्तर रंगमंच में कृष्ण के स्थान को निर्धारित किया। उनके अनुसार भारत तथा उसके बाहर अनेक रंगमंचों में कृष्ण के भागवत कथानक का स्पष्ट प्रभाव किसी न किसी रूप में देखने को मिलता है। मथुरा से पधारी डा० सरोजिनी कुलश्रेष्ठ ने लोकगीतों में कृष्ण की लोकप्रियता को दर्शाया। डा० ज्योति प्रसाद जैन ने परम्परा में कृष्ण का निर्धारण करते हुए उन्हें बाइसवें तीर्थंकर आरष्टिनेमि का चचेरा भाई बतलाया। इस साहित्य में उनके समस्त परिवार को हिन्दू शास्त्रों जैसा ही वर्णित किया गया है, पर उनका स्थान नेमि की अपेक्षा गौण रखा गया है। अन्त में उनके द्वारा कृष्ण विषयक जैन साहित्य की एक विस्तृत सूची भी दी गयी।

इस संगोष्ठी का एक महत्वपूर्ण निबन्ध डा० डोरिस श्रीनिवासन, जार्ज मैसन विश्वविद्यालय, संयुक्त राज्य अमेरिका, का है, जिसमें उन्होंने "मथुरा में प्रारम्भिक कृष्ण प्रतिमा" शीर्षक से एक शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। उनके अनुसार कुषाणकाल की मथुरा में प्रारम्भिक कृष्ण चित्रण वासुदेव कृष्ण की अपेक्षा गोपाल कृष्ण की लोकप्रियता को दर्शाता है। मथुरा संग्रहालय की कृष्ण कलाकृतियों को लेकर एक सूची परक निबन्ध वहीं के निदेशक डा० अरविन्द कुमार श्रीवास्तव ने प्रस्तुत किया। संगोष्ठी के अवसर पर श्री शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी, श्री शिव बिलास बाजपेई तथा श्री अमर सिंह के भी कला में कृष्ण की अभिव्यक्ति प्रकट करते हुए लघु निबन्ध प्राप्त हुए। राज्य संग्रहालय, लखनऊ की पुस्तकालयाध्यक्षा कु० सुषमा श्रीवास्तव ने इस अवसर पर श्रीकृष्ण विषयक पर एक उपयोगी संदर्भ सूची प्रस्तुत की।

संगोष्ठी का उद्घाटन पद्मभूषण श्री शिवराम मूर्ति ने आगन्तुक विद्वानों का स्वागत उत्तर प्रदेश, सरकार के सांस्कृतिक सचिव डा० जे० पी० सिंह ने, तथा अध्यक्षता भारत सरकार की संयुक्त शिक्षा सलाहकार श्रीमती कपिला वात्सायन ने किया। उन्होंने कृष्ण के व्यक्तित्व तथा भारतीय कला और संस्कृति पर उनके प्रभाव पर अपने विचार भी व्यक्त किये। संगोष्ठी की समाप्ति पर अपने विदाई भाषण से उत्तर प्रदेश सांस्कृतिक कार्य, की निदेशिका श्रीमती मंजुलिका गौतम ने आये हुए विद्वानों को हार्दिक बधाई दी। अन्त में संग्रहालय के निदेशक, श्री रमेश चन्द्र शर्मा ने सभी के प्रति अपना आभार व्यक्त किया और भविष्य में पुनः ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा की।

संगोष्ठी के शुभारम्भ के दिन ही कला में कृष्ण विषयक एक प्रदर्शनी भी आयोजित की गई जिसका उद्घाटन उ० प्र० के सांस्कृतिक कार्य विभाग के आयुक्त एवं सचिव डा० जे० पी० सिंह ने किया।

गीता के अनुसार अवतार का कारण

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपिसन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।। ४.६ ।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। ४.७ ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। ४.८ ।।

यादगारे सुलहेकुल—राष्ट्रीय एकता प्रदर्शनी

अशफ़ाक़ अहमद ख़ाँ

सम्राट अकबर की उदार और सह-अस्तित्व की नीति "सुलहेकुल" की स्मृति में सांस्कृतिक कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा एक विशेष सांस्कृतिक प्रदर्शनी दीवाने आम, लाल किला, आगरा के बरामदे में आयोजित की गई जिसमें उत्तर प्रदेश राजकीय अभिलेखागार, राज्य पुरातत्व संगठन तथा राज्य संग्रहालय, लखनऊ ने संयुक्त रूप से अभिलेखों, छायाचित्रों और विभिन्न कलाकृतियों के माध्यम से सम्राट अकबर की शांति प्रिय तथा धर्म समन्वय की नीति को आलोकित किया। प्रदर्शनी का उद्घाटन भारत सरकार के माननीय गृहमंत्री श्री ज्ञानी जैल सिंह जी के करकमलों द्वारा सम्पन्न हुआ जो ३१ अक्तूबर से २ नवम्बर १९८० तक देश-विदेश के पर्यटकों एवं दर्शकों का ज्ञान वर्धन कराती रही।

अकबर सर्वप्रथम मुसलमान शासक था जिसने भारतीय प्रजा में सभी धर्म के लोगों के प्रति सहिष्णुता की भावना को अपने सम्राज्य की एक महत्वपूर्ण नीति के रूप में अपनाया और उसको पूरी निष्ठा एवं लगन के साथ कार्यान्वित किया। उदारता अकबर को पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिली थी क्योंकि बाबर तथा हुमायूँ भी अपने समय के हिसाब से बहुत उदार थे। अकबर के शिक्षकों में से मीर अब्दुल लतीफ क़ज़यानी के उदार और सहिष्णुतापूर्ण व्यक्तित्व ने अकबर पर और भी गहरा प्रभाव डाला। कहा जाता है कि सम्राट की सुलहेकुल की नीति के प्रेरक भी अब्दुल लतीफ क़ज़यानी ही थे जिन्हें उनकी उदारता और व्यापक दृष्टिकोण रखने के कारण ईरान में सुन्नी तथा भारत में शिया समझा जाता था।

अकबर ने अपनी सुलहेकुल की नीति के अन्तर्गत सभी धर्म के मतावलम्बियों तथा सभी वर्ग के लोगों में एकता की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया। उसने प्रजा में यह भावना जागृत की कि राज्य में अन्य धर्म के लोगों का भी पूरा योगदान है तथा उनका शासक अकबर विदेशी होते हुये भी पूर्ण रूपेण भारतीय है। उसने भारतीय रीति-रिवाज, कला, स्थापत्य आदि को पूर्ण रूप से अपने विचारों के साथ

श्री अशफ़ाक़ अहमद ख़ाँ, मुद्राविद्, राज्य संग्रहालय, लखनऊ।

मिलाकर एक नया रंग दिया और फलस्वरूप एक मिश्रित शैली का विकास हुआ जिसको मुग़ल शैली के नाम से जाना जाता है ।

सभी धर्मों को जानने की जिज्ञासा से इबादत खाने में विभिन्न मतावलम्बियों से विचार विमर्श करने के कारण उसके विचारों में सभी धर्मों की अच्छी बातों का सामंजस्य उत्पन्न हुआ । उस पर हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी तथा ईसाई धर्मो का भी अधिक प्रभाव पड़ा और उसने इन सभी धर्मों की बहुत सारी बातों को अपनाया । अनेक धर्म सम्प्रदायों के आचार्यो से सतसंग और विचार कर उनकी सभी महत्वपूर्ण बातों का निचोड़ लेकर अकबर ने १५८२ ई० में एक नये धर्म का सूत्र पात किया जिसे हम दीन-ए-इलाही के नाम से जानते हैं । सुलहेकुल के आदर्शों पर प्रतिष्ठित दीन-ए-इलाही की मान्यता के लिये सम्राट ने कभी किसी को बाध्य नहीं किया । उसका अभिप्राय केवल धर्म समन्वय की भावना को उत्पन्न कर राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देना था जिससे कि राज्य में शान्ति उत्पन्न हो सके और साम्राज्य समृद्ध और शक्तिशाली बन सके । सर्व धर्म समन्वय अथवा सुलहेकुल की भावना का सम्राट ने न केवल अनेकों माध्यमों से प्रचार और प्रसार किया बल्कि इन आदर्शों को उसने अपने जीवन में पालने का पूरा प्रयत्न किया । तीर्थ यात्रा कर तथा जज़िया करों को न केवल उठा लिया गया अपितु मंदिरों के निर्माण पर लगे प्रतिबन्धों को हटाकर अनेकों मन्दिरों के निर्माण तथा उपासक संतों तथा आचार्यों के निर्वाह हेतु राज्य से सहायता भी प्रदान की जाने लगी ।

प्रदर्शनी में अकबर महान की सुलहेकुल नीति की झाँकी विभिन्न माध्यमों से प्रस्तुत की गई थी । सम्राट के अनेकों फ़रमान और अभिलेखों से उसकी उदार धार्मिक नीति का परिचय मिलता है । ये फ़रमान सन्तों, महात्माओं, देवालयों की सहायता आदि से सम्बन्धित हैं । प्रदर्शनी में वे फरमान प्रदर्शित थे जिनके द्वारा सम्राट ने वृन्दावन के गोविन्द देव मन्दिर तथा मदन मोहन मन्दिर के रखरखाव, प्रयोग तथा इलाहाबाद संगम के मन्दिरों की सुरक्षा तथा मदद-ए-माश के लिये आदेश जारी किये थे । वैचारिक क्रांति के फलस्वरूप अनेकों संस्कृत तथा फ़ारसी ग्रन्थों का एक दूसरी भाषा में अनुवाद हुआ । इनमें से बहुत से ग्रन्थ कलात्मक चित्रों से अलंकृत हुये ।

प्रदर्शित हस्तलिखित ग्रन्थों में अकबर के आदेश से संस्कृत से फ़ारसी भाषा में किये गये अनुवाद तथा समकालीन लेखकों की कृतियों की हस्तलिखित प्रतियाँ जैसे अकबर-नामा, आईन-ए-अकबरी, एयार-ए-दानिश, सचित्र नल दमन तथा महाभारत, रामायण, लीलावती, मुनतख़ब-उत-तवारीख़ इत्यादि प्रमुख है ।

स्थापत्य में अकबर की उदार विचारधारा का परिचय तत्कालीन स्मारकों से मिलता है जिसमें मन्दिर, मस्ज़िद, भवनों के हिन्दू-मुस्लिम अलंकरण प्रतीक उत्कीर्ण हैं । यह स्मारक छाया चित्रों के माध्यम से प्रदर्शनी में प्रदर्शित किये गये थे । सम्राट अकबर की धार्मिक सहिश्रुष्णुता के कारण वृन्दावन में अनेकों मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें गोविन्द देव मन्दिर, गोपीनाथ मन्दिर, मदनमोहन मन्दिर तथा युगल किशोर मन्दिर मुख्य हैं । इन मन्दिरों में हिन्दू स्थापत्य कला की विशेषताएँ जैसे कमलाकृतियों से अलंकृत ब्रैकेट, लिंटल रेखाकृति तथा गजपृष्ठाकृति छतों के साथ साथ मुस्लिम स्थापत्य कला की विशेषतायें जैसे मेहराब तथा गुम्बदाकार छतें भी स्पष्ट रूप से झलकती हैं । इसी काल में हिन्दू मन्दिरों का निर्माण पूर्णतया

मुस्लिम शैली में भी हुआ है जिनमें अकबरपुर (जिला कानपुर) के शुकुल तालाब एवं मन्दिर, कलारिन का हरि मन्दिर तथा मछरेहटा (जिला सीतापुर) में हरिद्वार विशेष उल्लेखनीय है। फतेहपुर सीकरी में बीरबल का महल हिन्दू एवं मुस्लिम कला का एक अनूठा उदाहरण है। अकबर द्वारा बनवाई गई शेख़ सलीम चिश्ती की दरगाह तथा ख़ैराबाद (जिला सीतापुर) में फ़ैज़ी द्वारा निर्मित छोटे मख़दूम शाह की दरगाह में हिन्दू स्थापत्य कला का प्रभाव अपना एक अनूठा उदाहरण है। ये कलाकृतियों से अलंकृत है तथा इसकी गुम्बदाकार छत पर हिन्दू मन्दिरों की तरह आमलक तथा कलश प्रतिष्ठापित हैं। शेख सलीम चिश्ती की दरगाह के द्वार पर अर्धमण्डप का होना हिन्दू स्थापत्य कला का प्रतीक है। फतेहपुर सीकरी के बने राज भवनों के हिन्दू मुस्लिम अलंकरणों का जवाब नहीं है।

हिन्दू-मुस्लिम समन्वित विचार धारा का सुन्दर प्रस्फुटन मुग़ल काल के लघु चित्रों में हुआ। मुगल शैली के नाम से भारतीय चित्र कला की नवीन धारा प्रवाहित हुई जिसमें हिन्दू तथा मुसलमान दोनों चितेरों ने अपनी तूलिका का कमाल दिखाया। फ़ारसी विषयों और भारतीय पृष्ठभूमि तथा भारतीय चरित्र और फ़ारसी वेषभूषा ने चित्रकला के क्षेत्र में नई क्रान्ति पैदा कर दी। कला में सुलहेकुल की भावना अकबर काल में लिखित और चित्रित हस्तलिखित ग्रन्थों, लघुचित्रों आदि से अभिव्यक्त होती है। प्रदर्शनी में इस समय के कुछ महत्वपूर्ण चित्र भी लगाये गये थे जिन्हें अकबर के दरबारी चित्रकारों तथा उसके समकालीन चित्रकारों ने तैयार किये थे जिनमें हिन्दू मुस्लिम एकता की स्पष्ट झलक मिलती है। अकबर के समय में रामायण कथानक पर बहुत ही सुन्दर चित्र बने। इनमें से कुछ चित्र भारत कला भवन वाराणसी से प्रदर्शन हेतु आगरा लाये गये थे। इन चित्रों की पृष्ठभूमि तथा वेशभूषा भी मुग़ल है किन्तु विषय हिन्दू हैं। इनमें से एक चित्र में भीम को हनुमान की पूँछ हटाते हुये दिखाया गया है। ईसाई धार्मिक नेताओं के सम्पर्क में आने के के कारण अकबर के समय के कुछ चित्रों में ईसाई विषय को भी अपनाया गया जैसे मेरी के साथ शिशु ईसा मसीह का चित्र जो बहुत ही सुन्दर है। प्रदर्शनी में प्रदर्शित राज्य संग्रहालय, लखनऊ के एक चित्र में राम तथा वशिष्ठ को वार्तालाप करते हुए दिखाया गया है इसमें काली दाढ़ी के साथ मुग़ल वस्त्र पहने वशिष्ठ बिल्कुल मुग़ल दिखाई पड़ते हैं। इसी चित्र में एक यज्ञ का भी दृश्य है जिसमें हिन्दू पुरोहितों के साथ मुसलमान भी दिखाई दे रहे हैं जो अकबर की धार्मिक नीति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसी प्रदर्शनी में राज्य संग्रहालय, लखनऊ की अकबर कालीन फ़ारसी भाषा में अनुदित हरिवंश पुराण की एक सचित्र पाण्डुलिपि भी प्रदर्शित थी। अकबर के समय में कथाग्रन्थ पंचतन्त्र का "अनवार-ए-सुहेली" के नाम से अनुवाद किया गया तथा अनेक मुसलमान तथा हिन्दू दरबारी चित्रकारों जिनमें मिसकीन, साँवला, जगन्नाथ, फर्रुख़चेला, बसावन इत्यादि प्रमुख है, ने मुगल परिवेश को आधार बनाकर आकर्षक चित्र बनाए। इन चित्रों के रंगीन छाया चित्र भी प्रदर्शनी में लगाये गये थे।

आईन-ए-अकबरी में कुछ चित्रकारों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं।

१—दसवन्त
२—बसावन
३—केशव
४—लाल
५—मुकुन्द
६—मिस्कीन

७—फर्रूख़ चेला
८—मधु
९—जगन
१०—महेश
११—खेमकरन
१२—तारा
१३—साँवलां
१४—हरिबंस
१५—राम

इन नामों का भी एक चार्ट बनाकर जनसाधारण की जानकारी हेतु प्रदर्शित किया गया था। प्रदर्शनी में वृन्दावन शोध संस्थान से प्राप्त कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों के कुछ पृष्ठ भी प्रदर्शित थे जिनसे पता चलता है कि अकबर के समय में लाहौर तथा आगरा में कुछ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद हुआ।

एक प्रदर्शन कक्ष में अकबर द्वारा चलाये गये इलाही सम्वत् के सिक्कों को प्रदर्शित किया गया था। इनमें से १६०५ ई० में चलाये गये "राम सिय" टंके की प्रतिकृति जनता के अत्याकर्षण का केन्द्र बन गई थी क्योंकि एक मुसलमान शासक द्वारा राम और सीता की आकृति का अपने सिक्के पर अंकन एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात थी। जबकि उससे पूर्व के शासक अपने सिक्कों पर कलमा आदि लिखा करते थे। यह अंकन अकबर की उदार सुलहेकुल नीति का जीता जागता अनूठा उदाहरण है और इस बात का द्योतक है कि अकबर की सुलहेकुल नीति केवल एक दिखावा नहीं थी अपितु सम्राट उसको लागू करने के लिये पूर्ण रूप से गम्भीर था।

प्रदर्शनी को विभिन्न प्रकार से ज्ञानवर्धक और जनसाधारण के लिये मनोरंजक बनाने की चेष्टा की गई थी। उपयुक्त स्थानों पर लगाए गए कक्ष परिचय पटों तथा वस्तु परिचय पट्टियों तथा सुलहेकुल परिचायक पटों से दीन-ए-इलाही" के प्रमुख सिद्धान्तों, तत्कालीन धर्माचार्यों, महात्माओं, विद्वानों तथा कलाकारों और सम्राट के प्रमुख सामन्तों के नामों की भी जानकारी मिलती थी। इनमें से कुछ निम्न प्रकार से हैं :—

विद्वान

१–मधुसरस्वती, २–मधुसूदन, ३–नारायण मिश्र, ४–हरिजी सूर, ५–यदरूप नारायण, ६–मधुभट्, ७–श्री भट्ट, ८–विष्णु नाथ, ९–राम कृष्ण, १०–वलभद्र मिश्र, ११–वासुदेव मिश्र, १२–रमण भट्ट, १३–गोपी नाथ तथा भगीरथ भट्टाचार्य आदि (स्रोत आईन-ए-अकबरी)।

अकबर के मंत्री और हिन्दी के प्रसिद्ध भक्त कवि अब्दुररहीम ख़ानख़ाना के श्री कृष्ण के प्रति उद्गार व्यक्त करने वाले निम्न दोहे को सुन्दर ढंग से पट्टिका पर लिखकर दर्शकों के ज्ञान वृद्धि हेतु लगाया गया था :—

"रहिमन कोऊ का करै, ज्वारी चोर लबार।
जो पत राखन हार है, माखन चाखन हार॥

इसी प्रकार समकालीन प्रसिद्ध कृष्ण भक्त रसखान के ब्रज प्रेम को लौकिक करने वाले दोहे भी पट्टिका द्वारा प्रदर्शित किये गये थे जो निम्न प्रकार से हैं :—

अकबर का रामसीय टंका
(प्रतिकृति राज्य संग्रहालय, लखनऊ)

केन्द्रीय गृहमंत्री ज्ञानी ज़ैलसिंह द्वारा राष्ट्रीय एकता प्रदर्शनी का उद्घाटन।
यादगारे सुलहेकुल, दीवानेआम, आगरा ३१-१०-१९८०

मानस हौं तो वही रसखान,
बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो धरयों कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं,
मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।

अकबर स्वयं भी हिन्दी में कविता करता था। बीरबल के निधन पर उसके द्वारा कहे गये दोहे को भी दर्शकों ने बहुत सराहा था :—

"दीन देखि सब दीन, अके न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहं दीन, कछु नहि राख्यों बीरबल।।

इसी प्रकार गोकुल के गुसाईं विट्ठल राय को गोरखनाथ के मन्दिर के रखरखाव आदि के बारे में सम्राट अकबर द्वारा जारी किये गये फ़रमानों का अनुवाद भी लिखकर जनसाधारण के सूचनार्थ लगाया गया था। इनमें से एक फ़रमान का अनुवाद निम्न प्रकार से यहाँ प्रस्तुत है :—

"इस वक्त में यह फ़रमान आलीशान सादिर हुआ कि मोज़े गोकुल में गुजरधार मतेसिल परगने महाबन ठाकुर द्वारे के ख़र्च वास्ते गुसाईं बिट्ठल राय को नसल बाद नसल मुक़र्रर कर सुपुर्द किया गया"

(तहरीर तारीख़ १५ ख़ुरदाद माह इलाही सन् ३८ मुताबिक सन् १५९४ ईस्वीं व सम्वत १६५१ विक्रमी।

प्रदर्शित सामग्री, सांस्कृतिक कार्य विभाग, उत्तर प्रदेश के अन्तर्गत राजकीय अभिलेखागार, राज्य पुरातत्व संगठन तथा राज्य संग्रहालय, लखनऊ द्वारा आयोजित की गई थी। इसमें कुछ अन्य संस्थायें जैसे भारत कला भवन, वाराणसी, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन, रज़ा पुस्तकालय, रामपुर, राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली ने भी अपने संकलन से महत्वपूर्ण सामग्री भेजी थी। इसके अतिरिक्त श्री एच० के० वातल व श्री वी० एस० तिवारी, आगरा ने भी प्रदर्शनी हेतु कुछ चित्र प्रदान किये थे।

प्रदर्शनी में राजकीय संग्रहालय, मथुरा से लाए गये साहित्य, चित्र, चित्रकार्ड, प्लास्टर अनुकृतियां भी उचित मूल्य पर विक्रय हेतु उपलब्ध थीं। इनमें सम्राट अकबर व उसके समकालीन संत स्वामी हरिदास जी तथा भक्त कवि सूरदास जी की अनुकृतियाँ मुख्य थीं।

अकबर के समय में लिखित महाभारत के आश्रम पर्व की प्रति

[वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन]

सांस्कृतिक कार्य विभाग उ० प्र० द्वारा आयोजित

ग्राउज स्मारक व्याख्यानमाला

७ से ९ मार्च १९८०

फ्रेडरिक सामन ग्राउज़

फ्रेडरिक सामान ग्राउज १९ वीं शती के प्रमुख प्राच्य विद्याविद् थे। उनका जन्म इंग्लैण्ड के दक्षिण-पश्चिमी सफोक के छोटे ग्राम बिल्डेस्टन में १८३७ में हुआ था। पिता रावर्ट ग्राउज के वह तृतीय पुत्र थे। आक्सफोर्ड से एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर १८६० में वह बंगाल सिविल सर्विस में प्रविष्ट हुए और एशियाटिक सोसायटी के सदस्य भी मनोनीत हुए। १८७१ में वह मथुरा में ज्वाइन्ट मजिस्ट्रेट होकर आए और एक वर्ष बाद जिला मजिस्ट्रेट बन गए। १८७८ में उनका बुलन्दशहर के लिए स्थानान्तरण हुआ, जहाँ वह १८८३ तक कलक्टर रहे। ग्राउज ने फतेहपुर, मैनपुरी और फतहगढ़ (फर्रुखाबाद) में भी जिला कलक्टर का पद सम्हाला। १ जनवरी १८७९ को उन्हें सी० आई० ई० उपाधि मिली। किन्तु अत्यधिक परिश्रम तथा स्थानान्तरणों से खिन्न रहने के कारण वह क्षय रोग से ग्रस्त हुए और समय से पूर्व ही उन्हें पेंशन लेकर इंग्लैण्ड लौटना पड़ा; जहाँ १९ मई, १८९३ को हसलमेर में उनका निधन हुआ।

हिन्दी सेवा

भारतीय प्रशासनिक सेवा में बहुत कम ऐसे अंग्रेज अधिकारी हुए हैं; जिन्होंने भारत को स्वदेश से भी अधिक आतमीयता प्रदान की और भारतीय संस्कृति, कला, भाषा आदि के समुन्नयन, प्रोत्साहन तथा सम्वर्द्धन के लिए जिन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया। ग्राउज का व्यक्तित्व ऐसा ही बहुमुखी था।

वह अनेक भाषाओं के विद्वान थे, और मुख्य रूप से अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी तथा फारसी में निष्णात थे। अंग्रेज होते हुए भी उन्होंने हिन्दी के लिए जितना महान् कार्य किया, वैसा हिन्दी के बहुत ही कम महारथी कर पाए हैं। तुलसी-कृत रामचरित मानस का उत्कृष्ट अंग्रेजी अनुवाद कर उन्होंने भारत की अमूल्य सांस्कृतिक और साहित्यक निधि-का विश्व से साक्षात्कार कराया। इसके साथ ही रामचरित मानस को पाठ्यक्रम में स्थान दिलाने का श्रेय भी ग्राउज को है। उनके मानस अनुवाद की तत्कालीन समीक्षकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिन्दी के सुनियोजित विकास के लिए हिन्दी व्याकरण के पठन-पाठन में भी ग्राउज ने पहल की। ब्रज के अनेक कवियों के स्फुट छंदों का अंग्रेजी अनुवाद कर ग्राउज ने उन्हें व्यापक प्रसिद्धि प्रदान की। उन्होंने सुप्रसिद्ध विद्वान ग्रियर्सन के विरोध में हिन्दी की नागरी लिपि का समर्थन किया। वह हिन्दुस्तानी के नहीं, अपितु शुद्ध हिन्दी के पक्षधर थे।

इतिहासकार

ग्राउज के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष है—उनका इतिहासकार का स्वरूप। इसका सर्वोत्तम प्रमाण उनका मथुरा जिले का गजेटियर है, जो 'मथुरा मेमोयर' के नाम से प्रसिद्ध है। सौ वर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर तथा अनेक पुरातात्विक शोधों के सम्पन्न होने पर भी यह ग्रंथ अभी तक व्रज के इतिहास के अध्ययन के हेतु आकर ग्रन्थ के रूप में समादृत है। इस ग्रन्थ को उन्होंने शासकीय गजेटियर से सर्वथा भिन्न रूप प्रदान किया और प्रशासनिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों के साथ ही व्रज के पारम्परिक, पौराणिक और सांस्कृतिक स्वरूप को भी पूर्णतया आलोकित किया है। यद्यपि कुछ स्थलों पर उनकी मान्यताओं में पूर्वाग्रह प्रतीत होता है तथापि उनकी चिन्तन तथा तर्क शैली सराहनीय है। ग्रन्थ के अन्त में स्थानों के नाम की विवेचना उनके उच्च कोटि के भाषा शास्त्री स्वरूप को मुखरित करती है। बुलन्दशहर का गजेटियर भी उनकी इतिहास-परक विद्वता का परिचायक है।

भारतीय शिल्प के प्रशंसक व समुद्धारक

ग्राउज के व्यक्तित्व का तीसरा पक्ष है—भारतीय शिल्प शास्त्र और वास्तु शैली का विशिष्ट ज्ञान तथा उसके उद्धार के लिए प्रयास। मथुरा जिले में उन्होंने अनेक प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, जिनमें वृन्दावन का गोविन्ददेव का मन्दिर प्रमुख है। इसके साथ ही उन्होंने तत्कालीन स्थापत्य को भी विकसित होने के अनेक अवसर प्रदान किए। ग्राउज का १८७८ में जब मथुरा से बुलन्दशहर को स्थानान्तरण हुआ तो वह मिरचू और यूसुफ नामक दो कुशल वास्तुकारों को अपने साथ ले गये और उनके तथा अन्य स्थानीय शिल्पियों के सहयोग से बुलन्दशहर में अनेक कलात्मक भवनों का निर्माण कराया। ग्राउज ने तत्कालीन भारतीय वास्तु शास्त्र पर दो लघु ग्रन्थ लिखे हैं, जिनकी भूमिका में उनका भारतीय शिल्प सौष्ठव के प्रति सहज अनुराग झलकता है। ग्राउज को पश्चिमी तड़क भड़क से वितृष्णा थी और वह उनके अंधानुकरण के कटु आलोचक थे। उन्होंने ऐसे भारतीयों को भी प्रताड़ित किया है, जो सरकारी सेवा में प्रोन्नति के लालच से अथवा अन्य किसी लोभ से भारतीय संस्कृति और परम्परा की उपेक्षा कर पाश्चात्य जगत का अनावश्यक अनुकरण करने की होड़ लगाते रहते हैं। ग्राउज का विश्वास था कि श्रेष्ठ कार्य करने वाले को अधिक वेतन दिया जाय, चाहे उसका अक्षर ज्ञान भले ही कम हो। इसी उद्देश्य से वह भारतीय कारीगरों, शिल्पियों के बड़े गुण-ग्राही थे। वास्तव में भारत में उनके जीवन का आरम्भ ही कलकत्ते में आयोजित भारतीय कला प्रदर्शनी की व्यवस्था से हुआ था। अतः उन्हें भारतीय कला की विशेषताओं को आरम्भ से ही बारीकी से पहचानने का अवसर मिला।

चिन्तक

ग्राउज के व्यक्तित्व का चौथा पक्ष है—उनका दार्शनिक जीवन और अध्यात्म प्रधान चिन्तन। अनेक भाषाओं के पण्डित होने के साथ ही उन्होंने भारतीय तत्व-चिन्तन का भी गम्भीर अध्ययन किया था। मथुरा मेमायर में व्रज के अनेक वैष्णव सम्प्रदायों की समीक्षा करते हुए ग्राउज का दार्शनिक चिन्तक स्वरूप

उभरा है। फलतः उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के गुण और दोषों का अपनी तार्किक दृष्टि से विस्तृत विवेचन किया है। ग्राउज ने अपने निबन्धों में इस पाश्चात्य भ्रान्ति का निराकरण किया कि कृष्ण क्राइस्ट का ही स्वरूप हैं! अनेक वैष्णव सन्तों में गोस्वामी तुलसीदास को उन्होंने मूर्धन्य इसलिए माना है कि उन्होंने भारतीय संस्कृति का सर्वोत्कृष्ट तथा सर्व लोकप्रिय सार प्रस्तुत करते हुए भी स्ययं अपने नाम से कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया। उन्होंने मथुरा के वैष्णव स्वरूप के साथ प्राचीन बौद्ध और जैन स्वरूप का भी वर्णन किया है। दार्शनिक चिन्तक होने के अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ विद्वान थे। जब उन्होंने रामचरित मानस का पर्याप्त अंग्रेजी अनुवाद कर डाला तब उन्हें पता लगा कि उनसे पहले भी मानस का अंग्रेजी अनुवाद कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज के अदालत खाँ ने किया है। उन्होंने इस तथ्य को अयोध्या काण्ड के संस्करण में प्रकाशित करते हुए अदालत खां की अनुवाद शैली के दोषों से भी अवगत कराया।

लोकोपकारी प्रशासक

एफ० एस० ग्राउज के व्यक्तित्व का पाँचवा पक्ष है—एक प्रशासक के रूप में उनकी उपलब्धि। उनकी साहित्य साधना से उच्च अधिकारी प्रसन्न नहीं थे और उनकी इच्छा के विरुद्ध स्थानान्तरण करते रहे। इसी कारण ग्राउज प्रायः खिन्न और रोग ग्रस्त रहे तथापि एक जिलाधीश को जनता के लिए जितना कुछ करना चाहिए उससे कहीं अधिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह ग्राउज ने किया। उनके समय मथुरा में कृषि के उपयोग के लिए नहरें निकाली गयीं, रेलवे लाइन बिछायी गयीं, मथुरा से हाथरस तक की छोटी लाइन का उपयोग १९ अक्टूबर, १८७५ को ग्राउज के समय ही हुआ और मथुरा-अछनेरा पर मिट्टी पड़नी आरम्भ हुई। गरीब घर बनाये गये, कुछ सड़कों का निर्माण हुआ। ये सभी कार्य बड़े जनोपयोगी थे। वल्लभ सम्प्रदाय का विशेष केन्द्र स्थान गोकुल, जो अत्यन्त उपेक्षित अवस्था में था ग्राउज के समय रूपान्तरित हो गया तथा वहां एक संस्कृत पाठशाला आरम्भ की। ग्राउज घोर अध्यवसायी और परिश्रमी थे। अनेक असुविधाओं का सामना करते हुए उन्होंने जिन परिस्थितियों में साहित्य साधना और विशेष रूप से मानस का अंग्रेजी अनुवाद किया उससे उनके तपस्वी जीवन पर प्रकाश पड़ता है। जिला प्रशासक के रूप में इतना घोर परिश्रम भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए एक महती प्रेरणा है।

पुरावेत्ता

ग्राउज के व्यक्तित्व का छठा और महत्वपूर्ण पक्ष है कि वह एक विशिष्ट पुरावेत्ता थे और उन्होंने अपने मथुरा काल में यहां के अनेक पुरा स्थलों का सर्वेक्षण किया एवं महत्वपूर्ण कला रत्न प्राप्त किये। इन पुरावशेषों की विशेषताओं पर उन्होंने तत्कालीन शोध पत्रिकाओं में अनेक निबन्ध लिखे और कुछ मूर्ति-लेखों का भी अध्ययन और प्रकाशन किया।

मथुरा संग्रहालय की स्थापना

ग्राउज का ब्रज की प्राचीन संस्कृति के अध्ययन और अनुशीलन में सर्वोत्कृष्ट योगदान था—१८७४

में मथुरा संग्रहालय की स्थापना। इससे पूर्व मथुरा क्षेत्र से मिली कला राशि उत्खनन कर्ता की इच्छा के अनुसार यत्र-तत्र भेजी जाती रही और ब्रज क्षेत्र का साँस्कृतिक सम्पदा कोष शनैः शनैः रिक्त होने लगा। ग्राउज ने इस शून्यता का आकलन किया और मथुरा की कला निधि को स्थानीय रूप से ही सुरक्षित करने का संकल्प करते हुए एक छोटे से अतिथि भवन को परिवर्तित कर संग्रहालय का श्री गणेश किया। इस भवन का परिवर्द्धन भी १९ वीं शताब्दी की तक्षण कला का एक सुन्दर मानक है। इससे ज्ञात होता है कि ग्राउज शिल्पियों को अपना कौशल प्रदर्शित करने का पूर्ण अवसर प्रदान करते थे। मथुरा संग्रहालय अब विशाल बट वृक्ष के रूप में भगतसिंह पार्क में विकसित हो रहा है और प्राचीन भारतीय कला के शोध तथा अध्ययन के हेतु यह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुका है।

इस प्रकार ग्राउज का भारतीय संस्कृति और हिन्दी के प्रति महान् योगदान है। ब्रज के लिए उनकी अविस्मरणीय देन है। उनके यशस्वी कृतित्व की स्मृति में व्याख्यान माला का श्रीगणेश करते हुए सांस्कृतिक कार्य विभाग उत्तर प्रदेश तथा मथुरा संग्रहालय परिवार को असीम हर्ष है। इससे संस्कृति के विविध पक्ष आलोकित होते रहेंगे।

रमेशचन्द्र शर्मा
निदेशक, राजकीय संग्रहालय, मथुरा

७.३.१९८०

मंजुलिका गौतम
निदेशक, सां० कार्य उ० प्र०

WORKS OF F. S. GROWSE

1. Mathura—A District Memoir 1874, 1880, 1883.
2. The Ramayana of Tulsi Das (Translation) 1883.
3. Bulandshahr or Sketches of an Indian District 1884.
4. Indian Architecture of Today, Two parts, 1885-86.
5. Supplement to the Fatehpur Gazetteer 1887.

A glimpse of Growse Memorial Lecture at Mathurā Museum, 7.3.1980.

निवेदन

१ पत्रिका उत्तर प्रदेश के संग्रहालय एवं पुरातत्व से सम्बन्धित सभी विषयों पर लिखे शोधपूर्ण लेखों का स्वागत करती है।

२ लेख हिन्दी या अँग्रेज़ी भाषा में हों।

३ लेखकों के मतों के लिये सम्पादक मण्डल का उत्तरदायित्व नहीं है।

४ पत्रिका के लिए प्रकाशनार्थ आने वाले लेख क्रमश: 15 जून एवं 16 दिसम्बर तक कार्यकारी सम्पादक के पास भेजे जायें।

५ लेख कागज के एक ही ओर दोहरे स्पेस में टंकित हों एवं सम्बन्धित चित्रों एवं रेखा चित्रों के विषय में स्पष्ट निर्देश हों।

६ अस्वीकृत लेख तभी वापस भेजे जायेंगे जब उनके साथ लेखक के द्वारा उचित मात्रा में डाक टिकट भेजे गये हों।

७ प्रकाशनीय सामग्री सम्बन्धी सम्पादक का निर्णय अन्तिम होगा।

८ लेख के प्रकाशित होने पर लेखक को, पत्रिका के अंक की एक प्रति तथा उसके लेख की 25 अतिरिक्त प्रतियाँ भेंट की जायेंगी।

९ पत्रिका में प्रकाशित हुए लेख, चित्र या छाया चित्र पूर्ण रूप से या अंश रूप से पुन: मुद्रित करने के लिए पूर्वानुमति लेना आवश्यक है।

१० पत्रिका सम्बन्धी सभी प्रकार का पत्र-व्यवहार कार्यकारी सम्पादक, संग्रहालय पुरातत्व पत्रिका, राज्य संग्रहालय, लखनऊ 226001 के पते पर किया जाय।

MUSEUM PUBLICATIONS FOR SALE

Books	Authors	Price Per Copy Rs. P.
1. Catalogue of Brahmanical Sculptures in the State Museum, Lucknow, Part I	Dr. N. P. Joshi	26.00
2. Catalogue of Gandhara Sculptures in the State Museum, Lucknow	Dr. N. P. Joshi & Sri R. C. Sharma	17.35
3. Catalogue of Indo-Greek Coins in the State Museum, Lucknow	Dr. A. K. Srivastava	9.72
4. Catalogue of Śaka Pahlava Coins of North India in the State Museum, Lucknow.	Dr. A. K. Srivastava	16.00
5. Supplementary Catalogue of Mughal Coins in the State Museum, Lucknow	Sri C. R. Singhal	20.00
6. Coin Hoards of Uttar Pradesh in the State Museum, Lucknow. Vol. I	Dr. A. K. Srivastava	27.00 (Bound) 22.00 (Paperbound)
7. Mathurā Kī Murtikalā (Hindi)	Dr. N. P. Joshi	19.50

Research Journals

Bulletin of Museums & Archaeology in U. P.

Nos. 3 to 18	3.00 (per No.)
Nos. 19-20 June-Dec. 1977 (Joint issue)	10.00
Nos. 21-24 June 1978-Dec. 1979 (Joint issue)	20.00

Note : Prices are liable to change; Postage extra. Attractive terms for Booksellers. Contact the Director, State Museum, Lucknow-226001. Telephone No. 43107.

TABLE OF TRANSLITERATION

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए
a	ā	i	ī	u	ū	e
ऐ	ओ	औ	अं	अः	ऋ	ऌ
ai	o	au	ṁ	ḥ	ṛ	lṛ

क्	ख्	ग्	घ्	ङ
k	kh	g	gh	ṅ
च्	छ्	ज्	झ्	ञ
ç	ch	j	jh	ñ
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ
त्	थ्	द्	ध्	न्
t	th	d	dh	n
प्	फ्	ब्	भ्	म्
p	ph	b	bh	m
य्	र्	ल्	व्	श्
y	r	l	v	ś
ष्	स्	ह्	क्ष्	त्र्
ṣ	s	h	kṣ	tr
		ज्ञ्		
		jñ		

AVAILABLE FOR SALE

(i) Spare Treasure Trove Coins
(Dehli Sultans and Mughal Emperors, etc.)

(ii) Photographs of antiquities housed in the Museum.

(iii) Plaster Casts of antiquities in the Museum Collection.

Order should be placed with
The Director,
State Museum, Lucknow-226001
(Phone : 43107 and 49798)

PNAR MUDRAK, 117 NAZIRABAD, LUCKNOW (Ph. 43757)